१९

अप्रैल-जून २००२

कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका

कहानियां

संतोष श्रीवास्तव

कमल

विजय

अनिमा नरेश

पदुमी गगै

राकेश कुमार सिंह

आमने-सामने
राकेश कुमार सिंह

सागर / सीपी
डॉ. नंदलाल पाठक

१५ रुपये

शुभ कामनाओं के साथ

उपभोक्ता ऋण, शैक्षणिक ऋण, मकान ऋण,

वाहन ऋण एवं अन्य सभी प्रकार के ऋणों

तथा हमारी विभिन्न जमा-योजनाओं में

निवेश के लिए

विस्तृत जानकारी के लिए कृपया हमारी किसी भी शाखा से संपर्क करें.

बैंक ऑफ महाराष्ट्र

(प्रधान कार्यालय : लोकमंगल, १५०१, शिवाजीनगर, पुणे ४११ ००५)

अप्रैल-जून २००२
(१९७९ से प्रकाशित)

कथाबिंब

प्रधान संपादक
डॉ. माधव सक्सेना 'अरविंद'
संपादिका
मंजुश्री
संपादन सहयोग
प्रबोध कुमार गोविल
देवमणि पांडेय
जय प्रकाश त्रिपाठी
अशोक वशिष्ठ
संपादन-संचालन पूर्णतः
अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

● सदस्यता शुल्क ●
आजीवन : ५०० रु., त्रैवार्षिक : १२५ रु.
वार्षिक : ५० रु.
(वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के रूप में भी स्वीकार्य है)
विदेश में (समुद्री डाक से)
वार्षिक : १५ डॉलर या १२ पौंड
कृपया सदस्यता शुल्क चैक (कमीशन जोड़कर), मनीऑर्डर, डिमान्ड ड्राफ्ट, पोस्टल ऑर्डर द्वारा केवल 'कथाबिंब' के नाम ही भेजें.

● संपर्क ●
ए-१० 'बसेरा,'
ऑफ दिन-क्वारी रोड,
देवनार, मुंबई - ४०० ०८८
फोन : ५५१ ५५४१ व ५५५ ५८२२
टेलीफैक्स : ५५५ २३४८
e-mail : kathabimb@yahoo.com

एक प्रति का मूल्य : १५ रु.
कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु
१५ रु. के डाक टिकट भेजें.
(सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)

क्रम

कहानियां

|| ५ || अपना-अपना नर्क / संतोष श्रीवास्तव
|| ११ || वैतरण / कमल
|| १८ || एक चिट्ठी अहमदाबाद से / विजय
|| २१ || अनुराग वर्मा को अनुराग वर्मा ही रहने दो ! / अनिमा नरेश
|| २४ || संधि (असमिया कहानी) / पदुमी गगै
|| २८ || नया चेहरा / राकेश कुमार सिंह

लघुकथाएं

|| १० || मूर्तिकार और पत्थर का ईश्वर / देवदत्त वाजपेयी
|| १७ || अकेले भी घुलते होंगे पिताजी / बलराम अग्रवाल
|| २७ || अपाहिज / डॉ. प्रद्युम्न भल्ला
|| ३२ || हिंदू-मुस्लिम / महावीर रवांल्टा
|| ४१ || दर्द की लकीर / हरिप्रसाद चौरसिया
|| ४९ || वसीयत / रमेशचंद्र पंडित
|| ४९ || यादें / राजकमल सक्सेना

दोहे / कविता / ग़ज़लें

|| २० || समय ले गया लूट कर...(दोहे) / जय चक्रवर्ती
|| ३८ || लोहा बन गया हूं मैं / नरेश अग्रवाल
|| ४७ || मैं और मेरा कवि / रचना भारतीय
|| ४७ || जीवन मैं निखरा होगा पलाश / रवींद्र हंस
|| ४७ || दो ग़ज़लें / राजेंद्र तिवारी
|| ४८ || ग़ज़लें / प्रमोद भट्ट नीलांचल, धर्मेंद्र तिजोड़ीवाले 'आज़ाद'
|| ४९ || ग़ज़ल / रवींद्र हंस

स्तंभ

|| २ || लेटरबॉक्स
|| ४ || 'कुछ कही, कुछ अनकही'
|| ३३ || आमने-सामने / राकेश कुमार सिंह
|| ३९ || सागर-सीपी / डॉ. नंदलाल पाठक
|| ४२ || पुस्तक-समीक्षाएं

लेटर बॉक्स

⌘ 'कथाबिंब' की अपनी अलग संघर्ष यात्रा है. १९७९ से लगातार प्रकाशित होते रहना, लघु-पत्रिका के लिए ऐतिहासिक उपलब्धि है. आपकी सोच, विचार और लगन का मैं शुरु से प्रशंसक रहा हूं.

'कही, अनकही' के बहाने आप थोड़े में बहुत कुछ कह जाते हैं. और अंत में ऐसी बात कहते हैं कि पाठक आगे अपनी तरफ से सोचना प्रारंभ कर देता है. आपके संपादकीय की यह ख़ासियत है. इस बार आपने देश में फैले आतंकवाद पर जो विचार प्रस्तुत किये हैं- पिछले कई दशकों के लेखा-जोखा के साथ, उसने हमें काफी प्रभावित किया है. आश्चर्य है, हमारे देश की जनता की आंखें ऐसे विचारों को पढ़कर भी नहीं खुल रही हैं. कहा भी गया है, जो अपनी रक्षा खुद करना नहीं जानते उनकी सहायता भगवान भी नहीं करते. हमें आतंकवाद से, भुखमरी से निपटने के लिए जाति, धर्म से काफी ऊपर उठना होगा. आपने अंत में, काफी सुलझी हुई बातें कहने का साहस किया है कि भारत के मुसलमानों को बहुत ही कठोर निर्णय लेने का समय आ गया है. उन्हें अपनी कट्टरता छोड़कर एक नयी पहचान बनानी होगी. कुरान की सीख अपनानी होगी. अपनी कमजोरियों से लड़ना होगा और एक सच्चा, ईमानदार भारतीय मुसलमान बनना होगा. उन्हें 'हिंदुस्तानी' बनना होगा.

सिद्धेश्वर,

अवसर प्रकाशन, पोस्ट बॉक्स नं. २०५,
करबिगहिया, पटना - ८०० ००१.

⌘ 'कथाबिंब' अपने बिंबाकन के साथ लगातार प्रभावित कर रहा है. हर अंक अपनी नयी साज-सज्जा एवं रचनाओं की प्रभावी प्रस्तुती के कारण पत्रिकाओं की भीड़ में अलग पहचान बनाने में सक्षम है.

जनवरी-मार्च २००२ का अंक भी किसी मायने में कम नहीं है. संपादकीय में 'रेखा-स्मृति' पुरस्कारों की चर्चा एवं पुरस्कार दिये जाने का प्रकार अति जनतांत्रिक एवं न्यायसंगत है. आज के कठिन दौर पर संपादकीय में आपने सटीक चर्चा की है, मैं पूर्णतः सहमत हूं. गुजरात के दंगे और इंदिरा काल के सिख दंगे देश का दुर्भाग्य हैं कि आज़ादी की अर्ध-सदी के बाद भी देश पिछड़ रहा है, उलटी गिनती जारी है, आख़िर क्यों ?

सर्वश्री सुकीर्ति गुप्ता, सुधीर अग्निहोत्री एवं डॉ. देवेंद्र सिंह की कहानियां, 'चंद्र' की लघुकथा एवं कृष्ण सुकुमार की ग़ज़लें भी प्रभावी हैं. संपादन एवं प्रस्तुतीकरण प्रभावी, श्रमशील एवं चिंतनपरक है.

मदन मोहन उपेंद्र,

संपादक 'सम्यक', ए-१०, शांतिनगर, मथुरा २८१ ००१

⌘ पत्रिका का 'जनवरी-मार्च' अंक आज प्राप्त हुआ. कितना श्रम झलकता है हर पृष्ठ से मैं शब्दों में कह नहीं सकता. एक-एक पृष्ठ पढ़ना, तैयार करना, प्रूफ देखना. मैं इस श्रम के प्रति नतमस्तक हूं. ऐसी ऊर्जा, जुनून, जुझारूपन ही तो चाहिए पत्रिका के लिए मगर अफ़सोस कि ऐसी पत्रिकाएं अब गिनी-चुनी ही रह गयी हैं. ख़ैर, मेरी बधाई स्वीकारें. मैं पत्रिका पूरी पढ़े बिना छोड़ ही नहीं पाया. सब कुछ संजोया है आपने इसमें. कहानी, लघुकथा, कविता, ग़ज़लें, साक्षात्कार व स्थायी स्तंभ.

राजीव सिंह की कहानी 'जूनी झूठ नहीं बोलती' मन पर गहरा प्रभाव छोड़ गयी. कहानी में बाल पात्रों को जिस सशक्त, सरल एवं सुंदर अंदाज से प्रस्तुत किया है लेखक ने वह काबिले तारीफ है. मैंने उन्हें व्यक्तिगत पत्र भी लिखा है. डॉ. देवेंद्र सिंह की कहानी 'अवसर' इस अंक की शानदार प्रस्तुती है, मैं लेखक को हृदय से बधाई देता हूं. ऐसी कहानियां कालजयी होती हैं. कहानी के पात्र सजीव परिवेश को जीते हैं जो कहानी की बहुत बड़ी उपलब्धि है. 'आमने-सामने' में डॉ. देवेंद्र सिंह की कही बातें मन पर गहरा असर छोड़ने में सफल रहीं ये कटु सच्चाइयां हैं. अनुभव का कितना बड़ा ख़ज़ाना है जिसे डॉ. सिंह ने बिना लाग-लपेट के परोसा है. ये बधाई के पात्र हैं.

घनश्याम अग्रवाल की कविताएं स्तरीय हैं. ग़ज़लें भी नये तेवर लिये हैं. 'कथाबिंब' का प्रत्येक अंक संग्रहणीय होता है. आपके श्रम की पुनः दाद देता हूं क्योंकि भले ही पाठक वर्ग मुट्ठी भर हो मगर ये आग जलती रहनी चाहिए.

बकौल दुष्यंत कुमार –

सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं,
मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए.

डॉ. प्रद्युम्न भल्ला,

५०८, सेक्टर-२०, अर्बन इस्टेट, कैथल - १३६०२७

⌘ 'कथाबिंब' का जनवरी-मार्च २००२ अंक मिला. आभारी हूं. वैसे तो 'कथाबिंब' कथाप्रधान पत्रिका है इस कारण इसकी प्रत्येक रचना स्तरीय, मर्मस्पर्शी व प्रभावी होती है. प्रत्येक अंक संग्रहणीय होता है. अतः इसकी प्रशंसा करना सूरज को दीप दिखाने जैसा है.

यदि मैं ग़लत नहीं हूं तो शायद पत्रिका के मुखपृष्ठ पर रेल के उस मनहूस डिब्बे का चित्र दिया गया है जिसमें तमाम निर्दोष यात्री ज़िंदा जल कर स्वाहा हो गये. मेरी तुच्छ बुद्धि में इस चित्र को देने का औचित्य समझ में नहीं आया. चित्र देखकर सूखते ज़ख्म फिर हरे होकर कसकने लगे और फिर सिलसिला चल पड़ा मन में खीज, ग्लानि, शोक की उथल-पुथल का. इस प्रकार की विडंबनाओं से यदि साहित्य को झमेले में न डाला जाये तो उत्तम ही रहेगा. क्योंकि इस कार्य के उत्तरदायित्व का वहन हमारा मीडिया भली भांति कर रहा है !

रामसहाय वर्मा,

मकरंद प्रकाशन, बी-१४/१५, नोएडा - २०१ ३०१.

⌘ 'कथाबिंब' के माध्यम से दिया जाने वाला 'रेखा सक्सेना स्मृति पुरस्कार' पुरस्कारों की धकापेल और घमासान के बीच स्वस्थ/स्वच्छ चयन प्रक्रिया की एक मिसाल पेश करता है. सबसे बड़ा अजूबा यह कि इस पुरस्कार के माध्यम से, न पत्रिका के संपादक की अपने आपको प्रोजेक्ट करने की कोई मंशा ज़ाहिर होती है, न प्रदान करने वाले, स्वर्गीय रेखाजी के पति, श्री उमेश चंद्र सक्सेना. दोनों ही पक्ष अपने आपको पूरी तरह नेपथ्य में रखते हुए, मात्र दिवंगत की स्मृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के प्रति सचेष्ट और तत्पर दिखे. वरना तो आजकल लगभग सारे ही पुरस्कार उन्हें प्रदान करने वाले व्यक्ति और संस्था को ही ज्यादा से ज्यादा प्रोजेक्ट करने के लिए ही इस्तेमाल किये जाते हैं.

पिछले तीन दशकों से, लेखन से जुड़ी होने के कारण, कई बार इन पुरस्कारों से काफी नज़दीकी रिश्ता निभाना पड़ा है और प्रायः स्थितियां इतनी विक्षुब्धकारी दिखीं कि चुपचाप अपना दामन बचाकर निकल आने में ही समझदारी लगी. पुरस्कार लेने और देने के बीच जैसे-तैसे हैरत-अंग्रेज, और शर्मनाक भी, तरीके अपनाये जाते हैं, वे पुरस्कारों की गरिमा और पारदर्शिता को तो कलंकित करते हैं ही, लेखकीय अस्मिता और व्यक्ति चरित्र को भी एक दुर्भाग्यपूर्ण उपहास का विषय बना देते हैं. ऐसे में, आपका यह छोटा-सा पुरस्कार, धुंध में जलते किसी चिराग की तरह नज़र आता है. काश ! लोभ की जलती मशालों वाले पुरस्कार इस छोटे दिए से यह सबक सीख सकते.

आपने इस पुरस्कार के माध्यम से उन हजारों-लाखों पाठकों को भी सम्मानित किया है जिनके हाथों में हिंदी की गरिमा और प्रतिष्ठा सुरक्षित है. रचनाकार, रचना को अस्तित्व में तो ले आता है, लेकिन उसे पहचान, प्यार और सच्ची प्रतिष्ठा, पढ़ने वालों की वज़ह से ही मिलती है.

रचना, रचनाकार, और मर्मज्ञ, तीनों को समुचित सम्मान प्रदान करने का श्रेय आपको जाता है, इस समझदारी और दूरदर्शिता के लिए मेरी शुभाशुंसा और अभिनंदन. कृपया सभी विजेताओं को मेरी बधाई दें.

डॉ. सूर्यबाला,

(अमरीका प्रवास के दौरान भेजी ई-मेल)

⌘ अपने एक साहित्यप्रेमी मित्र के सौजन्य से 'कथाबिंब' का जनवरी-मार्च २००२ अंक पढ़ने को मिला. अपने छात्र जीवन से ही 'कथाबिंब' के बारे में सुनता आया था, किंतु देखने-पढ़ने का सुअवसर पहली बार मिला. आपने संपादकीय में देश की अस्मिता और गरिमा पर मंडराते संकट पर जो चिंता जतायी है उस पर सचमुच हर सचेतन नागरिक को गंभीरता से सोचने की ज़रूरत है. डॉ. अजय शर्मा, राजीव सिंह और सुकीर्ति गुप्ता की कहानियों ने गहराई से प्रभावित किया. 'आमने-सामने' स्तंभ के अंतर्गत डॉ. देवेंद्र सिंह की आत्मरचना भी मर्मस्पर्शी है. पत्रिका के आकर्षक मुखपृष्ठ और सुंदर-सुसज्जित कलेवर ने बेहद प्रभावित किया. २२ साल की अवस्था प्राप्त कर चुका 'कथाबिंब' शतायु बने, ऐसी मेरी शुभेच्छा है.

संजय कुमार,

उप संपादक 'दैनिक हिंदुस्तान', द्वारा-जितेंद्र कुमार सिंह, प्रोफेसर कॉलोनी, शास्त्री नगर, पटना - ८०० ०२३.

⌘ पिछले कई वर्षों से 'कथाबिंब' का नियमित पाठक हूं और इस पत्रिका की उत्तरोत्तर प्रगति का साक्षी हूं. जनवरी-मार्च २००२ अंक की कहानियां, 'क्षमा', 'अपने-अपने कल्पवास', 'जूनी झूठ नहीं बोलती' तथा 'अवसर' मुझ पर विशेष प्रभाव छोड़ गयीं. दूसरों की बात मैं नहीं जानता, किंतु "कहानी" या कहें कि संपूर्ण ललित साहित्य (उपन्यास, नाटक, कविता आदि भी) को परखने का मेरा अपना निजी मापदंड है. इसमें पहली शर्त है कि रचना में अनिवार्य रूप से रंजकता होनी चाहिए. वह कहीं से उबाऊ या बोरिंग नहीं होनी चाहिए. दूसरी शर्त यह कि भाषा और शैली किंचित मात्र भी कृत्रिम व क्लिष्ट नहीं होनी चाहिए. अपने इस निकष के समर्थन में मैं श्रीराम चरित मानस का यह दोहा उद्धृत करना चाहता हूं-

"सरल कवित, कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान ।
सहज बयर बिसराय रिपु, जेहि सुनि करहिं बखान ।।"

'सरल' भाषा शैली में लिखा हुआ गोस्वामी जी का यह अजरामर काव्य-ग्रंथ क्या हिंदी का सर्वश्रेष्ठ काव्यग्रंथ नहीं है ?

उपरोक्त चारों कहानियां मेरी इस व्यक्तिगत कसौटी पर पूर्णरूपेण खरी उतरी हैं. वस्तुतः युगीन यथार्थ को भी सरल और फिर भी प्रभावपूर्ण भाषा शैली में चित्रित करने में उपरोक्त चारों लेखकों ने संपूर्ण सफलता प्राप्त की है. मैं उन्हें बधाई देना चाहूंगा.

लघुकथाएं भी ठीक हैं. विशेषतः जीवितराम सेतपाल की 'छलावा' शीर्षक लघुकथा मर्मस्पर्शी है.

'कुछ कही, कुछ अनकही' में आपने जो यथार्थ बात कही है उसके लिए भी बधाई ! आज की भ्रष्ट, घृणित, विस्फोटक राजनीतिक परिस्थिति पर प्रहार कर आपने साहसपूर्ण संपादकीय कर्तव्य का पालन किया है. तथाकथित छद्म धर्मनिरपेक्षता और तुष्टीकरण की नीति इस देश को चरम पतन के गर्त में ढकेलने को सन्नध है और कहीं भी सरदार वल्लभ भाई पटेल, सुभाषचंद्र बोस, राजेंद्र प्रसाद, लालबहादुर शास्त्री, सावरकर, भगतसिंह दिखाई नहीं दे रहे हैं !

भगीरथ शुक्ल,

पोस्ट बॉक्स नं-८, बोईसर, ठाणे - ४०१ ५०१.

(कृपया कुछ और प्रतिक्रियाएं पृष्ठ-५४ पर देखें)

कुछ कही, कुछ अनकही

इस बार फिर अंक आने में विलंब होगया. वर्ष २००२ का यह दूसरा अंक है. देरी होने के कई कारण हैं. कुछ कारण बहुत ही निजी हैं तो कुछ प्रकाशन-व्यवस्था में निरंतर चली आ रही गड़बड़ी से संबंधित हैं. बगलें झांकने के अलावा मेरे लिए कोई अन्य विकल्प नहीं है. क्योंकि इन सबका जिम्मेदार ख़ुद मैं ही हूं. पत्रिका निकालना एक महासमर में कूदने जैसा है. सतत चलने वाली एक लड़ाई. आप सुरक्षा के सारे इंतज़ाम कर लीजिए कि कहीं से भी दुश्मन अंदर न घुस पाये लेकिन कहीं न कहीं कुछ कमी रह ही जाती है और फिर आप धारा में बहने के अलावा कुछ भी नहीं कर सकते. सब तरफ से शिकंजा कसता जाता है - और आप महज़ बेहतर समय और अनुकूल परिस्थितियों की प्रतीक्षा ही कर सकते हैं. इस सबके बीच बस इतना ही कि इस वर्ष के अगले दोनों अंक जल्दी लाने की हमारी भरसक कोशिश रहेगी.

अब इस अंक की कहानियों के बारे में कुछ - संतोष श्रीवास्तव की कहानी 'अपना-अपना नर्क' दो परिवारों के दुखद व्यक्तिगत अनुभवों की कहानी है. दुर्घटना के दौरान एक परिवार का इकलौता लड़का गुज़र जाता है जबकि दूसरे का पुत्र ज़िंदा रहकर भी मरे के समान है और अंततः उन्हें उच्च न्यायालय में याचिका दायर कर 'दया मृत्यु' के अधिकार की मांग करनी पड़ती है. 'वैतरण' कहानी का नायक किसी तरह पैसों का जुगाड़ करके अपनी मरणासन्न मां को वीडियो पर रामायण दिखाने का इंतजाम करता है पर उसके घर पहुंचने से पहले ही मां स्वर्ग सिधार जाती है. 'एक चिट्ठी अहमदाबाद से' भाई विजय की कहानी गुजरात के दंगों के संबंध में एक बिल्कुल नया सच उजागर करती है कि पुलिस वाले जिस पर देश बेइंतहा पैसा ख़र्च करता है वे तनख्वाह तो सरकार से लेते हैं लेकिन कोई भी नाजायज़ काम उनकी जेबें भर कर किया जा सकता है. दंगों में सौराष्ट्र के तिजारितों का भी हाथ था. अनिमा नरेश की कहानी 'अनुराग वर्मा को...' एक अलग मूड की हल्की-फुल्की रचना है – एक कमजोर क्षण शायद कई जीवन नष्ट कर सकता है. इसलिए जो जैसा है उसे वैसा ही रहने दो. 'संधि' असमिया की प्रसिद्ध लेखिका पदुमी गगै की कहानी है. परिवार की मर्यादाओं के कारण चाहते हुए भी प्रेमी से प्रिया अपने प्रेम का इज़हार नहीं कर पायी. बाद में वह उसे मिला भी किंतु एक अलग रूप में. राकेश कुमार सिंह की 'नया चेहरा' एक सर्वथा भिन्न तेवर की कहानी है - एक हिंदू और एक मुसलमान दोस्त सालों बाद मिलते हैं किंतु अनचाहे ही उनके बीच दूरियां आ गयी हैं - शेर'ली का चेहरा मोहरा बिल्कुल बदल चुका होता है.

हिंदी के मुद्रण में निजी कंप्यूटर के निरंतर बढ़ते उपयोग से एक क्रांति सी आ गयी है. छोटे-छोटे कस्बों, शहरों से भी इधर अनेक लघुपत्रिकाएं प्रकाशित होने लगी हैं. इसका अवश्य स्वागत होना चाहिए. लेकिन इसके साथ ही हमें भाषा संबंधी कई सावधानियां बर्तनी होंगी, खास तौर से वर्तनी को लेकर. यह आम बात है कि अंग्रेजी लिखते समय, ड्राफ्टिंग करते हुए सही वर्तनी ढूंढ़ने के लिए लोग शब्द कोष देखते हैं पर हिंदी क्योंकि हमारी अपनी भाषा है इसलिए इस तरह की मशक्कत करने की बहुधा कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती. देवनागरी के संबंध में कहा जाता है कि यह लिपि विज्ञान सम्मत है, 'जैसा लिखा जाता है, वैसा ही पढ़ा जाता है' पर यह इतना आसान नहीं है. हमारे पास प्रकाशन के लिए असंख्य रचनाएं आती हैं. एक लेखक एक वाक्य में 'सम्बन्ध' लिखता है दूसरे में 'संबन्ध' और तीसरे में 'संबंध' यही बात 'लिए/लिये', 'हुए/हुये', 'गए/गये' और 'चाहिए/चाहिये' को लेकर भी देखने में आती है. एकरूपता के लिए 'कथाबिंब' ने काफी पहले से कुछ नियमादि अपनाये हैं. ये सभी पृष्ठ - ५५ पर दिये गये हैं. लेखक गण कृपया इन्हें देखें और अमल में लायें. साहित्यिक पत्रिका में देवनागरी अंकों का प्रयोग समुचित है अन्यथा वे हिंदी भाषा से पूरी तरह लुप्त ही हो जायेंगे. कंप्यूटर से टाइप करने में चरण चिन्ह (।) अलग कैरेक्टर समझा जाता है और कभी-कभी वह दूसरी पंक्ति में चला जाता है. अतएव चरण चिन्ह के स्थान पर पूर्ण विराम (.) का उपयोग अधिक सम्यक है और एकरूपता की दृष्टि से भी ठीक. वैसे भी छपी हुई रचना में बीच-बीच में चरण चिन्ह (।) की उपस्थिति पढ़ते समय आंखों को खटकती है इस कारण से भी पूर्ण विराम का इस्तेमाल उचित ठहरता है.

सभी पाठकों, शुभचिंतकों से एक बार फिर निवेदन कि कृपया अपने संपर्क का उपयोग करते हुए पत्रिका को विज्ञापन दिलवायें. विज्ञापन की दरों के लिए हमें लिखें. साथ ही कुछ नये आजीवन / त्रैवार्षिक / वार्षिक सदस्य भी बनवायें.

अर्चना

कहानी

अपना अपना नर्क

दीवान पर पीठ के बल लेटा, दोनों पैरों को दीवार पर शीर्षासन जैसे ताने शिशिर नाटकीय अंदाज़ में अपनी पसंदीदा किताब धीमी आवाज़ में पढ़ा करता...

"...जिस्म की छुअन के बिना रूह की छुअन बेमानी है. इश्क़ पहाड़ के सबसे ऊंचे शिखर पर गिरती शफ़्फ़ाक चमकीली बर्फ है... अनछुई अदभुत... सामने झील पर मंडराते परिंदों में अब कहीं खंजन पक्षी नहीं हैं. वे सारे के सारे खंजन मेरी महबूबा के नैनों में समा गये." तब कमरे में बसंत उतर आता था...

अब धुआंई उदासी पूरे कमरे में फैल चुकी है. दीवान हटा दिया गया है और उस ज़गह रखे हवन कुंड में, घेरा बनाकर बैठे तमाम रिश्तेदार, सगे संबंधी आहुतियां डाल रहे हैं. आज शिशिर की बरसी है. छलछलाई आंखों से सरोज देख रही है... मीनाक्षी के हाथों में रखी हवन सामग्री, उदास चेहरा, टपकती आंखें. हवन की लपटों में मानो खुद भी सुलग उठीं सरोज. अगर वे भाग्यशाली होतीं तो यह दृश्य होता शिशिर की और मीनाक्षी की शादी का ... उसके एकमात्र बेटे शिशिर की ज़िंदगी का सबसे ख़ुशगवार दिन... कि जिस दिन के इंतज़ार में वह रोज़ कोई न कोई नया प्रोग्राम बना लेता.... 'मैं शिप में रिसेप्शन करूंगा, समुद्र में पांच मील अंदर शिप ले जाकर.' निक्की हंसती, 'तुम तो आसमान में करना शादी. हेलिकॉप्टर पर...'

'फिर आपका क्या होगा बुआ ? हेलिकॉप्टर में तो मैं और मीनाक्षी ही बैठ पायेंगे.'

निक्की के साथ शिशिर की खनकती हंसी पूरे घर में गूंजती रहती. कि पीछे से किसी ने उसके दोनों कंधों को दबाया. भरी-भरी आंखें छलक पड़ीं... साल भर पहले की वह हाहाकार करती शाम...

मेहमानों को विदा कर वह डिनर की तैयारी करने उठी ही थी कि फोन की घंटी बज उठी. हाथ में पकड़ी सब्ज़ी की ट्रे थामे हुए ही रिसीवर उठाया. कोई अजनबी आवाज़ घबराई हुई सी '-हलो! शिशिर के डैडी हैं ?'

' जी... आप कौन?'

'मैं नेरल से बोल रहा हूं. ज़रा शिशिर के डैडी को फोन दीजिए.'

'वो ज़रा बस स्टॉप तक गये हैं, कोई मैसेज़ हो तो बतायें.'

'जी... वो... शिशिर का एक्सीडेंट हो गया है.'

'क्या s s s! कहां... कैसे?' हाथ की ट्रे गिरने को थी. झपटकर निक्की ने रिसीवर ले लिया- ' देखिए, आप लोग तुरंत नेरल आ जाये. वैन का पहिया फिसल गया था... सबको सिर पर चोटें हैं... दो सीरियस हैं... यहां का फोन नंबर और पता नोट कर लें... जल्दी.'

निक्की ने जल्दी-जल्दी पता और फोन नंबर नोट किया. सफ़ेद पड़ती, रह-रहकर कांपती सरोज को सोफ़े पर बिठाया और पूरी गंभीरता से बोली -'घबराओ मत भाभी... शिशिर को कुछ नहीं हुआ है.'

सरोज फटी-फटी आंखों से शून्य को टटोल रही थी. हथेलियां पसीज उठी थीं. निक्की दौड़कर उनके लिए पानी ले आयी. हमेशा भाभी पर निर्भर रहने वाली निक्की कैसी पुरखिन बनकर उन्हें सम्हाल रही थी. हालांकि उसके दिल की धड़कनें अपनी सीमा तोड़ने पर ऊतारू थीं. उसका बेहद लाड़ला शिशिर न जाने किस हाल में होगा ...'हे सिद्धी विनायक मेरे शिशिर को कुछ न हो, मैं ग्यारह मंगल निर्जला व्रत रखूंगी.' निक्की ने आंखें मूंदकर मन्नत मांगी, तभी राजेश आ गये. निक्की ने सारा वाक़या सिसकियों में सुना डाला. कांप उठे राजेश, जल्दी-जल्दी नेरल फोन लगाया. लगातार इंगेज्ड टोन... पांच मिनिट लगे लाइन मिलने में. इस बीच निक्की ने एक बैग में नेपकिन, पानी की बोतल रख दी.

'भैया... मैं भी चलूं ?'

लेकिन बोलने के लिए ज़बान कहां थी... सारी शक्ति, सारा हौसला पस्त-सा हो रहा था. एक निक्की ही थी जो दोनों को सम्हाले थी. कैसे पहुंच पायेंगे ये नेरल तक... अगर वह साथ जाये तो इधर भी तो कोई होना चाहिए. उसने वॉचमैन को कह टैक्सी मंगवाई. सरोज से अलमारी की चाबी ले दस हज़ार के नोटों की गड्डी उनके पर्स में ठूंस दी, न जाने कब, कैसी ज़रूरत पड़ जाये.

टैक्सी रवाना होते ही अकेले कमरे में रो पड़ी निक्की... यह क्या हो गया ? कितनी खुशी-खुशी शिशिर अपने दस अन्य दोस्तों के साथ माथेरान 'वीक एंड' पिकनिक के लिए गया था. वह भी जाना चाह रही थी पर शिशिर ने ही रोक दिया था. 'हम नेरल से ट्रेकिंग करते हुए माथेरान जायेंगे. आपसे ट्रेकिंग नहीं होगी बुआ, रेल्वे स्टेशन की सीढ़ी तक तो चढ़ नहीं पाती हो.'

'चल रे बदमाश... मेरे जाने से तुम लोगों की मस्ती में ख़लल जो पड़ेगा!'

'ऑफ कोर्स... यू आर ग्रेट, सब समझ जाती हो जल्दी से.'

'मुझे सब पता है. चार लड़कियां भी जा रही हैं साथ में.'

'ओ बुआ...' शिशिर ने बुआ के गाल चूम डाले थे. 'पर मीनाक्षी नहीं जा रही है बुआ... देखना पछतायेगी.'

'पहुंचते ही मुझे फोन करेगा न ?'

शिशिर ने हमेशा की तरह हथेली फैलायी थी. 'सौ का नोट दो पहले... तब करूंगा फोन...'

और फोन आया भी तो... ओह, न जाने कैसे हालात होंगे वहां के ? न जाने कहीं अस्पताल भी होगा भी या नहीं ? नेरल तो गांव है... न जाने कहां एक्सीडेंट हुआ है ? सोच-सोच कर बेहाल हो रही थी वह. इस बीच वह भाभी के मंदिर से अपने गणपति उठा लायी थी और फोन के पास ज़मकर बैठते हुए लगातार प्रार्थना में डूबी थी. घड़ी की सुईयां मानो सरकना भूल गयी थीं. दुर्घटना की ख़बर सुन उसके पड़ोसी नेरल का फोन नंबर ले गये थे और आधे घंटे बाद जब लौटे तो उनके हाथ में सूप था, 'निकिता वहां सब ठीक है, तुम यह सूप पीकर आराम करो. हम बीच-बीच में फोन करते रहेंगे वहां.'

सहारा पाकर वह फूट-फूट कर रो पड़ी. 'अभी तक भैया भाभी ने मुझे फोन क्यों नहीं किया ? वे बहुत प्रॉम्ट हैं इस मामले में... कभी देर नहीं होती उनकी तरफ़ से... कहीं कुछ...'

पड़ोसी ख़ामोश थे. उनके चेहरे की कैफ़ियत सच्चाई बयान कर रही थी. निक्की सहम गयी और सहम गयी उसकी प्रार्थना, मन्नतें. गणपति पर से उसका विश्वास पतझड़ के पीले पत्तों की तरह झड़ गया. डालियां ठूंठ हो गयीं. सन्नाटे से भरे कमरे में फोन चीख़ पड़ा. झपटकर उठाया. 'हां भैया... कैसा है शिशिर, उसे ज्यादा चोट तो नहीं आयी ? बोलिए न भैया, आप चुप क्यों हैं?' दिल दहला देने वाली ख़ामोशी से भरा लम्हा सरका - 'निक्की...' और वे फूट-फूट कर रो पड़े थे.

'निक्की यहां तो... यहां तो पोस्टमार्टम चला रहा है शिशिर का.'

एक घूंसा-सा लगा मानो दिल पर. भयंकर चीत्कार करती वह कटे पेड़ सी वहीं ढेर हो गयी. रिसीवर हवा में झूल रहा था और झूल रहा था इस घर का भविष्य अंधेरे में.

अभी छः महीने पहले ही तो सॉफ़्टवेयर इंजीनियरिंग में उच्चतम अंक प्राप्त कर मेधावी शिशिर को एक विदेशी कंपनी में बेहतरीन जॉब मिला था. बहुत खुश था वह... सरोज और राजेश का इकलौता शिशिर. शादी के कई साल बाद सरोज के शिशिर पैदा हुआ था. सरोज को शिशिर में ही मानो बेटी भी मिल गयी थी और बेटा भी. अपने अध्यापन के दौरान सरोज इतनी

हंसिका प्रभा.

२३ नवंबर, १९५२, मंडला (म. प्र.)

एम. ए. (हिंदी व इतिहास), बी. एड., पत्रकारिता में डिप्लोमा

लेखन : *१९७० में धर्मयुग में संतोष वर्मा नाम से पहली रचना छपी, तब से आज तक लगभग १६० कहानियां प्रकाशित.*

प्रकाशन : *'बहके बसंत तुम' और 'बहते ग्लेशियर' (कथा-संग्रह), 'फागुन का मन' (ललित निबंध संग्रह). 'नहीं, अब और नहीं' (संपादित संग्रह), 'हवा में बंद मुट्ठियां' (संयुक्त उपन्यास) तथा एक उपन्यास 'मालवगढ़ की मालविका' प्रकाशनाधीन.*

विशेष : *आकाशवाणी व विविध भारती (मुंबई) से रचनाओं का लगातार प्रसारण. कुछ कहानियों पर टेलीफिल्में भी बनी. अनेक भाषाओं में रचनाएं अनूदित. 'विजय वर्मा मेमोरियल ट्रस्ट' की प्रबंध न्यासी.*

सम्मान : *कालिदास सम्मान (१९७४), महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादमी पुरस्कार (१९९७), साहित्य शिरोमणि पुरस्कार (२००१) एवं रेखा सक्सेना स्मृति पुरस्कार (२००१).*

संप्रति : *स्वतंत्र लेखन, संपादन.*

व्यस्त रहती थीं कि घर में कम ही समय दे पातीं. देखते-देखते खिलंदड़ा, नटखट शिशिर कब बड़ा हो गया, कब उसने अपने नन्हें कंधों पर घर की जिम्मेदारियां ओढ़ लीं पता ही न चला. उसने देखा था अपने अध्यापक मां-बाप को सीमित आय में तमाम जिम्मेदारियों को ढोते... उसकी महंगी पढ़ाई.. कानपुर में बाबा दादी की बुढ़ापे की बीमारियां... तीन-तीन कुंवारी बुआओं की सरकती उम्र... और हर महीने भेजा जाता मनीऑर्डर... तमाम संघर्षों, आर्थिक जटिलताओं के बीच शिशिर ने समझ लिया था कि उसे जो करना है स्वयं करना है. उसकी आंखों में सपने थे. वह नयी पीढ़ी का ऐसा युवक था जो हर दिन पूरा जीवन जी लेना चाहता था. ज़िंदगी के एक-एक पल को मुट्ठी में भींचकर बहुत शिद्दत से जी लेना चाहता था वह. ज़िंदगी मानो एक नशा थी

और वह उस नशे में चूर था. महंगे-महंगे बेहतरीन, फैशन बूटीक के कपड़े और परफ़्यूम वह अपनी हर सैलरी में खरीद लेता. महंगे शूज़, महंगी रिस्टवॉच, सनग्लासेज़, कैसेट्स, सी. डी. ... राजेश ने और सरोज ने कभी लोकल ट्रेन की प्रथम श्रेणी में सफ़र नहीं किया. हमेशा भीड़ में ठुंसे, भीड़ का हिस्सा हुए वे दब-पिसकर मीरा रोड से ग्रांट रोड तक पहुंचते थे लेकिन शिशिर ने नौकरी लगते ही फर्स्ट क्लास का पास बनवा लिया. सरोज बिगड़ पड़ी. 'एक पैसा तो तुम बचा नहीं पाते हो, थोड़ा जोड़ना भी सीखो.'

'अरे ममा... पास तो मुझे कंपनी ने दिया है. आने-जाने का फर्स्ट क्लास का पास और ऑफिस में दिन भर कॉफी-चाय जितनी पियो. और ममा जोडूं किसके लिए ? मोटा बैंक बैलेंस कर लूं खूद को कमियों में रखकर, तरसाकर ? ओह ममा... तुम पेपर पढ़ लिया करो रोज़ का.'

सरोज ने चकित हो शिशिर को देखा - 'इसमें पेपर पढ़ने की क्या बात है ?'

'बात है ममा ! पेपर रंगे पड़े रहते हैं अंडरवर्ल्ड के लोगों की हफ़्तावसूली से... नहीं मानने पर गुलशन कुमार गोलियों से भून दिया गया. मोटा बैंक बैलेंस वो गुड़ है जो डी गैंग के शूटरों को ततैया, बर्र की तरह अपनी तरफ एट्रेक्ट करता है.'

सरोज ध्यान से शिशिर के चेहरे को देखने लगी थी. क्या इसीलिए शिशिर इतनी सारी तनख्वाह पत्तों की तरह हवा में उड़ा देता है ? क्या इसीलिए आज की पीढ़ी कमाने और ख़र्चने में विश्वास करती है. वीक एंड पर पार्टी, पिकनिक, फिल्म, महंगे-महंगे रेस्तरां, कान से सटा वॉक मेन, मोबाइल फोन... निश्छल खिलखिलाहट... ऐसी भरपूर कि सावन के घटाटोप बादलों के बीच चमकती बिजली भी शरमा जाये. इस पीढ़ी को भविष्य की कोई चिंता नहीं... यह पीढ़ी आज में जीती है...

'और ममा इन शूटरों से बच गये तो ट्रेन से गिरकर कट मरो... हर दिन हादसे... आज हैं कल नहीं... फफूंदी लगाने को और दूसरों के ऐश करने के लिए बैंक में पैसा जोड़ो क्यों भई? हमारा भविष्य तो आंतक की छांव तले पनप रहा है. बंदूक की नोक, रेल की पटरी और सड़क पर सहमा खड़ा है हमारा भविष्य तो. ममा, जानती हो, हर साल अस्सी हज़ार जानें जाती हैं सड़क दुर्घटनाओं में...'

सरोज की पलकें झुक गयी थीं, शर्म से या अपनी बेहद व्यस्त दिनचर्या से जिसमें सामने पेपर ज़रूर होता था लेकिन मन में स्कूल की नौवीं, दसवीं कक्षाओं का पोर्शन ठुंसा होता... फलां तारीख़ से परीक्षा है, फलां तारीख़ तक पोर्शन ख़त्म कर देना है... यदि कोई हादसा होता तो स्टाफ रूम में उसे सुनने के बाद वे पेपर में पढ़तीं... घर आकर टी. वी. ऑन करके न्यूज़ सुनतीं जो सुन चुकी होतीं औरों के मुंह से... उसे इस तरह टी. वी. के परदे पर देख लेतीं और उनका यह बेफ़िक्र लड़का ए-टु ज़ेड सारी जानकारी रखता है. बेवफ़ा ज़िंदगी में खुशियां बटोरने, जीने और जीने देने की एक नयी परिभाषा को लिये कितना खुश है वह... एक वे हैं जो चींटी की तरह पाई-पाई घसीटती, जोड़ती रहीं. न खुद ढंग से जी पायीं, न अपनी मर्जी का कुछ कर पायीं. अपनी ज़रूरतों को मारकर धन जोड़ती रहीं... किसलिए, नाते रिश्तेदारों की वक़्त बेवक़्त, ऊलजूल फरमाइशों पर स्वाहा करने के लिए ? ठीक कहता है शिशिर, उन्हें उसके सामने अपना व्यक्तित्व दाना-दाना घसीटती, कमज़ोर चींटी सा जान पड़ा.

हर दिन किताबों से तरह-तरह की इश्किया लाइनें पढ़ते रहने और रात ग्यारह बजे सबके सो जाने पर फोन पर धीमे-धीमे बतियाने से सरोज को शक़ हुआ. पूछने पर शिशिर ने बिना किसी दुराव-छुपाव के बता दिया कि उसके साथ कॉलेज में पढ़ी मीनाक्षी से उसका इश्क़ चल रहा है. थोड़ी देर तो वे ख़ामोश रहीं. जानती थीं कि शिशिर का निर्णय ग़लत नहीं होता... मीनाक्षी प्रतिष्ठित परिवार की खूबसूरत लड़की है. इनकारी की कोई वज़ह भी नहीं. प्रश्न अगर उठ भी तो उसके महाराष्ट्रियन होने पर ही उठ सकता है. वे दकियानूसी विचारों की नहीं हैं लेकिन शिशिर के बाबा-दादी की सहमति ज़रूरी है. पूरे महिने भर बाद जब संपूर्ण परिवार ने शादी के लिए ग्रीन सिग्नल दे दिया तो उन्होंने शिशिर को बुलाकर अपनी सहमति प्रगट कर दी. चहक उठा वह, उनके पैर छू कर लिपट पड़ा उनसे. वे बहू की कल्पना में खो गयीं और शिशिर मीनाक्षी से यह बताने को उतावला कि अब आसमान हमारी मुट्ठी में है, कि अब हम जितना चाहे पंख पसारें...

❑

एकाएक रो-रो कर बेहाल हुई निक्की को याद आया, मीनाक्षी को तो ख़बर कर दे... लेकिन वहां घंटी बज रही थी, कोई उठा नहीं रहा था फोन. चौथी बार लगाने पर मीनाक्षी की आजी ने मराठी में बताया कि मीनाक्षी अपने मम्मी डैडी के साथ नेरल पहुंच चुकी है. उन्होंने यह भी बताया कि उन ग्यारह लोगों में से अनूप और रेखा बच गये हैं. लेकिन रेखा के बचने की उम्मीद नहीं के बराबर है.

सुबह-सुबह शिशिर को लेकर सरोज और राजेश मीनाक्षी और भी न जाने कितने सारे लोग घर लौट आये और लौट आया एक शिला का सच. ...हां, शिशिर मर चुका है. न हिल-डुल रहा है, न कुछ बोल रहा है. हमेशा रेस्टलेस रहने वाला, कितनी शांति से चिरनिद्रा में लीन है. देखते ही निक्की बेहोश हो गयी, पूरा फ्लैट दुःख के महासागर में डूब गया. सरोज न रो रही थीं, न किसी से कुछ बोल रही थीं. आंखें फटी, शून्य में टकटकी... मानो उस अदृश्य सत्ता से सवाल कर रही थीं कि क्यों किया ऐसा ?

क्यों सुख की थाली परोसते ही छीन ली ? क्यों लूट लिया ज़िंदगी का उजाला और क्यों अंधेरे में झोंक दी बाकी की उम्र. अनूप की तरह शिशिर क्यों नहीं बच सका ? हां, अनूप ही बच पाया है. रेखा भी दो घंटों तक मौत से संघर्ष कर चल बसी थी. एक साथ इतनी जवान मौतें ? कैसा रहा होगा वह क्षण जब वैन कुलाटी खाती, हंसती खिलखिलाती ज़िंदगियों को लिये गहरी घाटी में गिरकर चकनाचूर हो गयी थी. कुछ के तो चेहरे पहचानने मुश्किल थे. शिशिर की ब्रेन की हड्डी टूट गई थी. खून उबल-उबल कर आंख, कान, नाक से बह चला था, फेफड़े सिकुड़ गये थे...एक डरावनी मौत झेलकर भी शिशिर के चेहरे पर मासूम शांति बिखरी थी. मानो कह रहा है... 'मैं न कहता था ममा ज़िंदगी का कोई भरोसा नहीं, आज है कल नहीं.'

सहसा वे बेतहाशा बिलखती हुई शिशिर के सीने पर जो गिरीं तो फिर हफ़्तों नहीं उठीं. बुखार ने दबोच लिया उन्हें... सदमे के कारण बुखार उतर ही नहीं रहा था. सारे शरीर में दर्द और सूखी खांसी. अनूप की मां देखने आयीं. उन्हें 'सब्र करिए मिसेज़ वर्मा...' वह दिव्य आत्मा थी, अधिक दिन कैसे रहती दुनिया में?'

काश... वह भी बच जाता... जैसे आप अनूप को सम्हाले हैं, मैं भी सम्हाल लेती. कम से कम नज़रों के सामने तो रहता. मीनाक्षी कहती है कि हाथ पैर टूट जाते तो टूट ... कम से कम शिशिर के होने की तो तसल्ली रहती.

अनूप की मां उनके कंधे से लिपट कर रो पड़ीं -'सिर पर गहरी चोट लगने से दिमाग में खून जम गया था. तुरंत ऑपरेशन करना पड़ा. पूरा सिर घुटा हुआ, पट्टियों से बंधा. गाल सूजे, आंख के नीचे चोट के फफोले, सेलाइन, खून चढ़ाने वाली नलियों से बिंधे हाथ ...नहीं सहन होता मुझसे ये सब.'

'तसल्ली रखिए, सांस बची है, शरीर भी वापिस आ जायेगा. बुखार उतरते ही मैं देखने आऊंगी उसे.'

सोचने लगीं - 'काश, शिशिर भी ज़िंदा होता. ज़िंदा होता तो ज़िंदा रहते मीनाक्षी के सपने ! शिशिर के रहते उनके परिवार ने मीनाक्षी को ऐसे अपना लिया था मानो वह उस घर की बेटी हो. तीज त्योहार में वह आती तो वे उसे उपहारों से पूर देतीं... चौके में वह निक्की और शिशिर के साथ नाश्ता, लंच या डिनर तैयार कर रही होती. तीनों की खिलखिलाहट पेपर जांचती सरोज के कानों में मिश्री घोल देती. उन्होंने तय कर लिया था वे मीनाक्षी के साथ सास का नहीं बल्कि दोस्ती का रिश्ता रखेंगी. मीनाक्षी है भी इसी काबिल. उसके गुणों से सारे नाते रिश्तेदार, पड़ोस, मित्र रश्क करने लगे थे. तभी तो निक्की कहती है - "नज़र लग गयी शिशिर को.'

सफ़ेद कपड़े से ढके शिशिर के पैरों को कई घंटों से दबाती मीनाक्षी सहसा अपने डैडी को सामने देख सिसक पड़ी थी. -'डैडी, बरा, काय झाला ?'

वह यह भूल गयी थी कि शिशिर की मृत देह को ऐंबुलेंस में अपनी गोद में रखे उसके डैडी ही थे, वह यह भी भूल गयी कि शिशिर अभी उसका पति नहीं हुआ था... उसने दाहिने हाथ में पहना कांच का कड़ा उतारकर उसके पैरों के पास रख दिया था. शाम को जब उसकी सहेलियां उससे मिलने आयी थीं तो वह बदहवास सी घूम-घूम कर उन्हें घर दिखा रही थी - 'यह हमारी अलमारी, मेरी और शिशिर की... यह हमारे मख़मली चादर, कंबल, ग़िलाफ़ इन्हें शिशिर जम्मू से लाया था... और ये देखो... उसकी पसंद के अचार. मिर्ची का अचार उसे खूब पसंद था.' फिर डबडबाई आंखों से ज़बरदस्ती हंसते हुए बोली थी - 'उस दिन पराठे के एक कौर में पूरी मिर्ची खा गया था शिशिर और सी-सी करता भागा था सिंक की ओर, पर नल में पानी ही न था, उस दिन पानी की स्ट्राइक जो थी.' सहसा निक्की ने उसे सीने से लगा लिया था... सरहदें केवल दो देशों के बीच ही नहीं होतीं, सरहद मृत्यु और जीवन के बीच भी होती है... इस पार जीवन, उस पार मृत्यु और मृत्यु के बाद की अनजानी राहें... मीनाक्षी ने यह सरहद ही मिटा डाली थी. ज़िंदगी में मौत को जी रही थी वह. अफ़सोस था तो बस इस बात का कि वह शिशिर के साथ क्यों नहीं माथेरान गयी. तब या तो वह शिशिर के साथ होती या शिशिर उसके.

'पता है बुआजी, जिस लड़की के कारण ट्रेकिंग का प्रोग्राम कैंसिल कर सब वैन में बैठकर जा रहे थे उसका, जबरदस्त मृत्यु योग था.'

नहीं मीनाक्षी, मृत्यु योग तो हमारा था... हमारी ज़िंदगी हमसे छिन गयी, निक्की ने कहना चाहा था पर मीनाक्षी के चेहरे की मायूसी ने उसे ख़ामोश कर दिया था.

❑

समय कहां रुकता है... सांसों के बोझ तले हांफ़ते राजेश और सरोज धुआं-धुआं जी रहे थे. अक़्सर अनूप की मम्मी या पापा से भेंट हो जाती... अक़्सर वे अस्पताल चले जाते देखने. चौबीस साल का जवान हट्टा-कट्टा अनूप दस महीनों की जानलेवा पीड़ा को झेलता सूख कर कंकाल मात्र रह गया था. चेहरे पर मुर्दनी छाई रहती. जीवन का संकेत देती सांसें ही यह विश्वास दिलातीं कि वह ज़िंदा है. खाना भी नलियों के सहारे, पानी भी नलियों के सहारे... टट्टी, पेशाब भी नलियों के सहारे... नलियों पर टिके इस जीवन को ज़िंदगी देने के लिए कमरतोड़ महंगाई में पाई-पाई ख़र्चते अनूप के माता-पिता... सारे गहने बिक गये, बैंक खाली हो गया, क़र्ज़ का बोझ बढ़ता गया. सरोज ने अपनी एक महीने की पूरी की पूरी तनख़्वाह ही यह कहकर दे दी कि- 'लौटाने की न सोचना...मेरे लिए शिशिर समान है अनूप.' काश शिशिर होता तो वे अपना सब कुछ उसके इलाज पर न्यौछावर कर देतीं पर उनका भाग्य ने साथ नहीं दिया.

शिशिर के ऑफिस के सहकर्मी मिलने आते. अब शिशिर से ज़्यादा अनूप की चर्चा होती- 'मांस का लोंदा बनकर रह गया है अनूप एक ज़िंदा लाश.'

सरोज तड़प उठतीं- 'ऐसा मत कहो वह ज़िंदा है, मां-बाप के लिए यही क्या कम बड़ी बात है ?'

'यह आपका मोह है आंटी... पल-पल मरने से तो शिशिर जैसी मौत भली. गिरे और ख़त्म !'

सरोज अंदर चली गयीं, कैसी होती जा रही है युवा पीढ़ी भावनाशून्य. मां-बाप के सामने ही बक देती है जो मुंह में आया. इतने लोगों में से अनूप का बचना कोई मामूली बात नहीं है. उनका सौभाग्य उनके साथ था... वरना शिशिर की तरह अनूप भी...

मन बहुत कसकता रहता. क्यों हुआ ऐसा ? ईश्वर ने एक ही औलाद दी और उनके ज़िंदा रहते हुए ही छीन भी ली... मौत आनी थी तो उन्हें क्यों न आयी ? तड़प उठतीं वे. रातों को नींद खट से खुल जाती, कल्पना करतीं... वैन घाटी में गिर रही है, सभी चीख-चिल्ला रहे हैं. वैन के दरवाज़े टूट गये हैं, दरवाज़ों से गिरती लड़कियां पत्थरों की चोट खा, बिलबिलाकर बेहोश हो गयी हैं. शिशिर का सिर चट्टान से टकराया है... वह बिलख रहा है... 'ममा, मैं जीना चाहता हूं ममा... मुझे बचा लो.'

उनकी हांफ़ी चलने लगती, रक्त का दौरा शिराओं को तोड़ने लगता. सारा शरीर पसीने से नहा जाता... लेकिन हलक सूख जाता... डॉक्टर ने सलाह दी कि वे ध्यान योग की क्लासेज़ अटैंड कर लें. ...ध्यान योग, ईश्वर चिंतन तो बड़े-बड़े दुःखों की अचूक दवा है. वे उत्तेजित हो गयीं. ईश्वर चिंतन !! ईश्वर है कहां... शिशिर के साथ तो वह भी मर गया... शिशिर के साथ ही उसका दाहकर्म भी हो गया.

कंधों के दबाव के साथ ही उनके कानों में कोई फुसफुसाया, 'अनूप के बड़े भाई आये हैं... अनूप डीप कोमा में चला गया है.' वे झटका खा गयीं... अपने ही दुःख में डूबी, साल बीत जाने का लम्हा-लम्हा बटोरती वे सोच भी नहीं पायी थीं कि पांच सदस्यों सहित अनूप की लंबी बीमारी का खर्चा झेलते परिवार का ढांचा ही चरमरा गया है जबकि उन लोगों का आर्थिक पक्ष पहले से ही कमज़ोर था.

शाम को वे राजेश के साथ अनूप को देखने अस्पताल पहुंची. बलिष्ठ शरीर वाला अनूप सूखकर हड्डी का ढांचा मात्र रह गया था. आंखें बंद... जैसे समाधि में लीन हो... धीरे-धीरे उसका आधा शरीर सुन्न हो गया था. लेकिन अनूप की मां यह मानने को तैयार नहीं थीं कि उसे कमर से नीचे पैर तक लकवा मार गया है. अनूप के पापा ने बताया कि साल भर से महंगे टेस्ट, महंगी दवाइयां, विशेषज्ञ डॉक्टरों की फीस, अस्पताल के कमरे का किराया भरते-भरते वे कंगाली की गिरफ़्त में आ गये.

हैं. उन्होंने प्रदेश के आला अफ़सरों, राजनेताओं से सहायता की अपील की है लेकिन अभी तक तो कोई सुनवाई नहीं हुई. दुर्घटना-मुआवज़ा भी नहीं मिला अभी तक. कई चैरिटी संस्थाओं में भी अनुदान की मांग की गयी. कुछ ने दिया भी... पर इतना कम जैसे रेत के महासागर में पानी की बूंद..

'हौसला रखें भाई साहब... कोई न कोई हल निकल ही आयेगा', सरोज ने सूनी आंखों से राजेश की ओर देखा... मानो जता रही हों कि जैसे ही दुर्घटना मुआवज़ा मिलेगा हम इनकी मदद ज़रूर करेंगे... पर मजबूरी ! साल भर से केस टंगा है. इधर अनूप की रफ़्ता-रफ़्ता मौत की गिरफ़्त में जाती ज़िंदगी सरोज से देखी नहीं जाती. जब भी उससे मिलकर लौटती, उसके चेहरे का सूनापन और सन्नाटे से गूंजती आंखें ज़ेहन में कौंधती रहतीं. वक़्त भी कैसी चीज़ है ? कहां तो वे अनूप के बच जाने पर मन ही मन यह भी सोचती रही थीं कि काश, शिशिर भी बच जाता लेकिन अब... अब एहसास होता है मानो अनूप का घर बेबसी का ऐसा खंडहर बन गया है जिसकी दीवारों के साथ उनकी गुर्बत के जालों की तरह अनूप की कराहें भी लटकी हैं और लटकी हैं उस घर के हर सदस्य की लाचार सिसकियां भी, आह ! जीवन ऐसा भी होता है.'

एक दिन पता चला कि अनूप के मम्मी-पापा ने उच्च न्यायालय में एक याचिका दायर कर यह मांग की है कि उनके पुत्र अनूप को दयामृत्यु का अधिकार दिया जाये. सुनकर वे सन्न रह गयीं... मानो आकाश के गर्भ में छुपी तमाम बिजलियां, उल्काएं उनके ऊपर टूट कर गिर पड़ी हों... यह क्या सुन रही हैं वे ? जिस अनूप के लिए उन लोगों ने घर की पाई-पाई स्वाहा कर दी... और जो उनका भविष्य है... उसी की मृत्यु की कामना!

लघुकथा

मूर्तिकार और पत्थर का ईश्वर

✍ देवदत्त वाजपेयी

हिमाच्छादित पर्वत खंडों के बीच एक देवालय था. एक ओर घने देवदार के वृक्ष और उनसे भी ऊंचे हिमाच्छादित शिखर तथा दूसरी ओर चौरस भूमि में गेंदा, सूर्यमुखी और गुलाब की क्यारियां व कनैर के उगे पौधे. पूरब की ओर ढलान, सूरज की किरणें जब देवालय पर लगी पताका पर पड़तीं तब तक ईश्वर की श्वेत पाषाण प्रतिमा पर अगर और चंदनादि का लेपन हो चुकता और आराधना प्रारंभ हो जाती थी.

आसपास पड़े हुए पत्थरों के टुकड़ों को श्वेत प्रतिमा के सौभाग्य पर डाह होती थी. वे सब कभी विक्षुब्ध, कभी विद्रोही और कभी प्रतिशोधी हो उठते थे. किंतु कोई उपाय न सूझता.

एक दिन एक वृद्ध मटमैले कपड़े पहने एक हाथ में झोला लिये और दूसरे हाथ में पूजा के फूल लिये मंदिर में आया. उसके सूखे बाल, लहराती दाढ़ी, बिवाईयुक्त एड़ियां और चेहरे पर खिंची रेखाएं उसकी उम्र का कुछ अंदाजा दे रही थीं.

आखिर पत्थरों ने पहचान लिया कि यह वही मूर्तिकार है जिसने मूर्ति तराश कर उन सबों की शांति छीनी है. उसके माथे पर एक रुष्ट पत्थर आ गिरा और रुधिर धारा बह निकली. सभी पत्थरों ने उसे दोषी ठहराया. वह वृद्ध पत्थरों की भाषा समझता था. आखिर जीवन पत्थरों को तराशते बीता था ! उसने पत्थरों को संबोधित करते हुए कहा - मैं मूर्ति बनाने के लिए शिला-खंड की तलाश में कितना घूमा किंतु इस प्रतिमा पाषाण को छोड़कर कोई रूप धारण करने के लिए तैयार नहीं हुआ. उसका स्वर उग्र हो उठा- क्या तुमको मालूम है कि इस पाषाण ने मेरी तीक्ष्ण छेनी और बलशाली हथौड़े की कितनी मार खायी है ? उसका तन कितना रगड़ा और घिसा गया है ? अब तो वह यथाशक्ति जोर से चीखने लगा- मैं आज भी तैयार हूं, तुममें से कौन ईश्वर बनना चाहता है ? उसने छेनी और हथौड़ा आकाश में तान दिये. किंतु किसी भी पत्थर की हिम्मत न हुई कि आगे आये और ईश्वर बनने को तैयार हो. छेनी और हथौड़ा आकाश से धरती पर आ गिरे. रक्त बहता रहा और जब चुक गया तो बंद हो गया.

फ्लैट २०२, टॉवर - डी०४,
सागर दर्शन, सेक्टर १८,
पाम बीच रोड, नेरुल, नवी मुंबई-४०० ७०६

सुनकर रहा न गया. राजेश के साथ भागती हुई अनूप के घर गयीं. तो अनूप की मम्मी उनसे लिपटकर फूट-फूट कर रो पड़ीं. 'अनूप से मौत का पीड़ादायी इंतज़ार करवाना ठीक नहीं. डॉक्टरों ने भी इनकार कर दिया है. अब उसका इलाज संभव नहीं.'

'फिर भी... जब तक सांस चलती है, आस कैसे छोड़ी जा सकती है ?'

'तो क्या करें सरोज़ जी, अस्पताल के भारी ख़र्च के साथ उसका तड़पना देखें... या घर लाकर रात दिन उसके मुर्दा शरीर की उठती-गिरती सांसों को गिनें ?'

सरोज की आंखें डबडबा आयीं...वे तो चले गये के लिए साल भर से रो रही हैं, ज़िंदगी भर रोयेंगी और ये ज़िंदा बच गये के लिए आंसू बहा रहे हैं... उन्होंने तो शिशिर का मृत शरीर पहली और अंतिम बार बस चंद घंटों के लिए देखा... ये तो रोज -रोज देख रहे हैं. जो कष्ट और पीड़ा अनूप झेल रहा है उससे कहीं अधिक कष्ट और पीड़ा तो ये दोनों झेल रहे हैं...बेटे के खोने का ग़म... घर के कंगाली की गिरफ़्त में चले जाने का ग़म, भविष्य के लिए की गयी सारी बचत, सारी भविष्य निधि, सारा क़ीमती सामान, ज़ेवर... सब स्वाहा... और क़र्ज में बिंधे सो अलग...

अचानक उनकी सोच का रुख बदल गया. अचानक उन्होंने स्वीकार कर लिया कि इस रूप में ज़िंदा बच जाने से तो शिशिर जैसी मौत अच्छी थी !

भारी मन से लौटते हुए वे राजेश से बोलीं - 'तुम क्या सोचते हो... अब अनूप ज़िंदगी की ओर तो लौट नहीं सकता. उनके माता पिता ने ठीक निर्णय लिया है. मर्सी किलिंग का अधिकार उन्हें मिलना ही चाहिए.'

राजेश अवाक् थे.

बी-७०२, निर्मल टॉवर, गौरव गैलेक्सी
फेज II के पीछे, मीरा रोड (पूर्व), ठाणे, मुंबई-४०११०७

कहानी

वैतरण

गुणाधर ने धड़कते हृदय से मैनेजर के कक्ष का दरवाज़ा खटखटाया. वह सुबह से ही अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था. कि, कब मैनेजर अकेले हों और वह उनसे बात कर सके. मगर 'मार्च क्लोज़िंग' होने के कारण मैनेजर भी बहुत व्यस्त रहा था. लंच के बाद ही मैनेजर ज़रा अकेला हुआ. लंच के बाद आराम कर चुके मैनेजर साब अच्छे मूड में होंगे, ऐसा सोच कर गुणाधर लपक लिया था. उसे इस बात का भय था कि, किसी और के मैनेजर के पास चले जाने से उसे वह अवसर खोना ना पड़ जाये.

"कम इन," मैनेजर के मुंह से निकले इस वाक्य ने गुणाधर का रास्ता साफ किया. गुणाधर का अनुमान ग़लत साबित हुआ. आराम से सिगरेट पीने की ज़गह मैनेजर साब मेज़ पर खुली फाइल का बड़ी गंभीरता से अध्ययन कर रहे थे. वही गंभीरता उनकी आंखों में थी, जब उन्होंने नज़रें उठा कर गुणाधर को देखा. बोले कुछ नहीं. बोलने का काम उनकी भृकुटि ने किया. वैसे भी अफ़सर लोग बोलने का काम कम ही करते हैं. ख़ासकर अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से. कर्मचारियों को ही अपनी क्षमता का उपयोग कर अफ़सर की आंखों, भृकुटियों, गर्दन पर सर के हिलने-डुलने और बंद मुंह से निकलने वाली "हूं... हां" की भाषा समझनी पड़ती है. जो भी यह भाषा जितनी अच्छी तरह समझता है, अपने पदाधिकारी का उतना ही ज्यादा चहेता बना रहता है.

गुणाधर भी उस तनी हुई भृकुटि की भाषा समझ गया, जिसका अर्थ था, "क्या बात है?" वैसे उसका एक दूसरा भी अर्थ था कि, "अपना काम छोड़ कर, बिन बुलाये मेर पास क्यों आये हो ?"

पदाधिकारी ऐसी ही द्विअर्थी भाषा बोलते हैं. वैसे अवसरों पर कर्मचारी का दायित्व और भी बढ़ जाता है कि, वह अधिक उपयुक्त अर्थ को ही समझे. बहुविकल्प वाले उन प्रश्नों की तरह जिसमें ज्यादा सही उत्तर पर ही टिक लगानी होती है, ग़लत टिक लगी और आप फेल.

हमारे कथा नायक ने सही अर्थ पकड़ते हुए कहा, "जी सर...आज मुझे एक घंटा पहले छुट्टी चाहिए! ज़रूरी काम है."

"क्या काम है?"

गुणाधर को लगा मैनेजर छुट्टी देने की भूमिका बना रहा हो. "जी कुछ पर्सनल काम है," गुणाधर ने मन ही मन पर्सनल शब्द को प्रणाम किया. कितना अच्छा शब्द है. कहीं भी फिट करके ज़वाब देने से बचा जा सकता है.

वह कुछ परेशान भी हुआ. अब मैनेजर साब को कैसे बताये कि, उसे आज सदर बाजार से भाड़े पर वीडियो घर ले जाना है. घर पर सब लोग "रामायण" देखना चाहते हैं. मैनेजर तो उसे पागल ही कहेगा. महीने के अंतिम सप्ताह में जब हर वेतनभोगी की जेब खाली हो चुकी होती है गुणाधर ने वीडियो देखने का कार्यक्रम कैसे बना लिया. वह भी उस गांव में घर पर जहां अभी तक बिजली भी नहीं पहुंची है. इस कारण उसे साथ में बैटरी भी लेकर जाना पड़ेगा.

कमल

जब से मां की बीमारी बढ़ी है, सीमीत आय और बढ़ती महंगाई ने उसे सचमुच पागल ही तो कर दिया है. डॉक्टर महंगे, दवाएं महंगी, बीमारियों के टेस्ट महंगे... उसे जानने वाले तो यही समझते हैं कि, वह बैंक में काम करता है. बैंक यानि पैसा... वहां तो धन उगता है... मूलधन, व्याज, मिश्रधन... सब धन ही धन... कहीं दुगना तो कहीं तिगुना. भला वहां काम करने वाले को पैसों की क्या कमी ? गुणाधर उन लोगों को समझा-समझा कर थक गया है कि, वह नॉनबैंकिंग प्राइवेट बैंक में काम करता है. जहां का पैसा उसका या उसके बाप का नहीं है, कंपनी का है. मगर उन लोगों को तो, केवल बैंक शब्द समझ में आता है, समझ में नहीं आता तो, केवल नॉनबैंकिंग शब्द का अर्थ, जिसे वे समझना भी नहीं चाहते. क्योंकि, बैंक शब्द कानों में पड़ते ही उन सब की आंखों के सामने पैसे नाचने लगते और नोट झूमने लगते...

"आपका पर्सनल काम 'मार्च क्लोज़िंग' के समय ही होना ज़रूरी है क्या ?" अब मैनेजर के स्तर में झल्लाहट साफ हो चुकी थी. "सुबह वाले सभी लेटर टाइप हो गये हैं क्या ?"

"जी, थोड़ा-सा बाकी है." गुणाधर जान चुका था कि, मैनेजर ने उसे छुट्टी नहीं देने की बात कह दी है, फिर भी वह किसी अनहोनी की आशा में खड़ा रहा. वह सोच रहा था शायद अब भी बात बन जाये और उसे छुट्टी मिल जाये.

"तो जा कर अपना काम ख़त्म कीजिए. अपना पर्सनल काम अगले माह कीजिएगा." मैनेजर ने उसका भ्रम तोड़ा और अपनी फाइल पर झुक गया.

अब वह मैनेजर को कैसे समझाये. वह स्वयं भी यही चाहता था कि उस पर्सनल काम को अगले माह तक टाल दिया जाये, जब तक कि वेतन नहीं मिल जाता. वैसे भी एक अप्रैल को वार्षिक बंदी होने के कारण मार्च का वेतन दो अप्रैल से पहले तो नहीं मिलने वाला. तब तक वीडियो देखने वाला प्रोग्राम स्थगित रहे. मगर कल रात वह मौसी, मां, भाभी किसी को भी तो नहीं समझा सका था. पत्नी सब कुछ जानने-समझने के बावजूद गुणाधर के पक्ष में एक भी तर्क नहीं जुटा पायी थी.

वह बुझे मन से वापस मुड़ा. दरवाजे तक पहुंचते-पहुंचते पीछे से आ कर मैनेजर की आवाज़ उससे आ टकरायी, "गुणाधर बाबू" वह तेजी से पलटा. उसे लगा शायद मैनेजर ने छुट्टी ना देने का अपना इरादा बदल लिया.

"ये फाइल ले जाइए. कुछ अर्जेंट लेटर हैं, जल्द टाइप कर ले आइए." मैनेजर ने फाइल मेज पर गुणाधर वाले छोर की ओर उछाल दी.

निराशा से गुणाधर ने फाइल उठाई और बाहर निकल गया. वह सोच रहा था, पांच बजे वाली बस अब ज़रूर छूट जायेगी. आखिरी बस छः बजे आती है, बहुत भीड़ हो जाने के कारण उसमें कभी भी बैठने की ज़गह नहीं मिलती है. फिर आज तो उसे वीडियो वाले साजो-सामान के साथ जाना है. मन ही मन चिंतित होता गुणाधर अपनी सीट पर लौट आया. मैनेजर पर खीझते हुए उसने इलेक्ट्रॉनिक टाइपराइटर ऑन किया, मॉनीटर पर चमकीले हरे रंग के अक्षर दिप-दिप करने लगे.

मां से टी.वी. सीरियल रामायण की बातें करते हुए, कुछ ऐसी ही चमक मौसी की आंखों में भी रही होगी.

"सच्चे में दीदी, अइसा लगे है जइसे राम जी साछात सामने आ कर खड़े हो गये हैं. शाबरी जब जूठे बेर देती है तो, बहुत मुस्कान से लेकर खाते हैं. ऊ मुस्कान तो करेजे में ही उतर जाती है." मौसी पूरे उत्साह से बताये जा रही थी.

मां की बीमारी का सुन कर मौसी कुछ दिन पूर्व ही गांव आयी थी. इस बार मां की बीमारी काफी लंबी खिच गयी थी. उनकी हालत में आ रही गिरावट के साथ ही परिवार के सदस्यों की चिंता बढ़ती जा रही थी. डॉक्टर के बताये सारे टेस्ट गुणाधर करवा चुका था. डॉक्टर ने जब मस्तिष्क का 'कैट स्कैन' देख कर बताया कि, मां को 'मैलिग्नेंट ब्रेन ट्यूमर' है और काफी एडवांस स्टेज होने के कारण अब इलाज असंभव और व्यर्थ है... तब गुणाधर मौन रह गया था. वह तो सोच कर गया था कि, डॉक्टर रिपोर्टें देख कर कोई कारगर दवा बतायेगा और मां अच्छी हो जायेंगी. डॉक्टर ने अपनी बात जारी रखी थी, "आई एम सॉरी, यंग मैन! अब अपनी मां को कीमोथिरेपी के पीड़ादायक उपचार की नहीं सेवा की ज़रूरत है... जितना हो सके उनकी सेवा कर लीजिए."

१ जनवरी, १९६४, सी. सी. एल. सौंदा (हज़ारीबाग),
एम. एस-सी. (जीवशास्त्र)

लेखन : *कहानियां, व्यंग्य, नाटक आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित.*

विशेष : *आकाशवाणी व दूरदर्शन के रांची एवं जमशेदपुर केंद्रों से कई कहानियां प्रसारित.*

सम्मान : *सिंहभूम हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा आयोजित 'नाट्योत्सव-१९९९' प्रतियोगिता में पुरस्कार. स्थानीय दैनिक 'इस्पात मेल' द्वारा 'विजया साहित्य वार्षिकी-२०००' समारोह में सम्मानित.*

संप्रति : *राज्य सरकार अंतर्गत सेवारत अधिकारी.*

गुणाधर मौन रह गया था, उसके लिए मां की संभावित मौत का समाचार एक सदमा था. बहुत प्रयत्नों के बाद भी वह स्वयं को नहीं संभाल पाया... और फूट-फूट कर देर तक रोता रहा था. ठीक है कि मृत्यु हर जीवन का अंतिम और शाश्वत सत्य है. परंतु इस सत्य को भूल कर ही तो सब जीते हैं. वह मृत्यु कितना असहाय कर देती है जिसकी भविष्यवाणी कर दी जाये कि, अब जीवन आठ, दस या पंद्रह दिनों का बचा है. एक के बाद एक कई डॉक्टरों को रिपोर्टें दिखाता और उनसे लगभग एक-सा ही उत्तर प्राप्त करता गुणाधर रोता रहा था.

न जाने इस बात का उसके वृद्ध पिता पर क्या प्रभाव पड़े, इस डर से वह घर पर भी किसी को नहीं बता सका था कि, मां अब चंद दिनों की मेहमान है. किसी और को ना बताने की सख्त हिदायत के साथ, केवल अपनी पत्नी को ही वह राजदार बना पाया था. और फिर उन दोनों के लिए एक भयानक मानसिक यंत्रणा का दौर शुरू हो गया था, जिसमें वे दोनों हर दिन हर पल मां को धीरे-धीरे मौत की तरफ बढ़ता देख रहे थे... निरूपाय ... निःसहाय. समय को तो कोई भी नहीं रोक सका, आज तक. प्रार्थना भी नहीं...

मौसी का ज्यादा समय मां के पास ही देवी देवताओं की बातें करते बीतता. उस समय उनके बीच रामायण टी.वी. सीरियल

की चर्चा हो रही थी. मौसी की बात सुन कर मां ने कमज़ोर आवाज़ में कहा, "हां छोटी, भगवान के दर्शन तो सबके भाग में कहां होते हैं? तेरे भाग में रहे, तूने देख लिये."

"ऐसी बात नहीं है दीदी, अब तो ऊ सीरियल का कैसिट भी बन गया है. जिसने तब ना देखा हो, वो अब देख ले. ऊ का बोलते हैं कि, वीडियो पर." मां की दिलचस्पी बढ़ती देख मौसी और भी उत्साह से बताने लगी, "सारी चीज़ें भाड़े पर मिलती हैं. घर लाओ देखो और लौटा दो, बस."

भाड़े वाली बात सुन कर मां के मन में ललक जाग पड़ी. इस देह का क्या भरोसा, कब तक साथ रहे? एक बार भगवान के दर्शन हो जायें तो, जन्म सफल हो जाये. कुछ ऐसे ही विचार बार-बार उनके मन में उमड़ रहे थे. जिन्हें दबा कर वे बोलीं, "मेरे ऐसे भाग कहां, छोटी. घर पर रामायण होने से कितने काम बढ़ जायेंगे, झाड़ू-बुहारू, लीपा-पोती, धूप-अगरबत्ती. फिर मुझसे तो बैठा भी नहीं जाता. कैसे देखूंगी ?"

मौसी छूटते ही बोली, "इसमें बैठने का क्या है, खाट पर पड़े-पड़े देखती रहना. फिर घर में दो-दो बहुएं हैं, लीपा पोती के बारे में किस बात की चिंता ?" फिर कुछ रुक कर, लोहा गरम देख चोट करते हुए बोली, "मैंने भी पूरा कहां देखा है. कई इतवार को छूट भी जाता था. तू गुणा से कह कर वीडियो घर पर मंगवा ले, तुम्हारे साथ मैं भी पूरा देख लूंगी."

कुछ इसी तरह की बातें उनके बीच होती रही थीं, जिनका पता उस शाम घर लौटने पर गुणाधर को चला था. भाभी मां के पांव दबा रही थी. बगल में दूसरी खाट पर बैठी मौसी, अपनी माला फेर रही थी.

"कैसी हो, मां?" गुणाधर ने बैठते हुए पूछा. उसकी आवाज़ सुन कर मां ने आंखें खोलीं और धीमे से कहा, "ठीक हूं बेटा." तभी मौसी ने उसे टोका था, "गुणाधर बेटा, रमैण देखने की तेरी मां की बड़ी इच्छा है." गुणाधर ने सोचा, हर वर्ष दुर्गापूजा के अवसर पर गांव में होने वाली रामायण की बात छेड़ रही है. लेकिन अभी तो दुर्गापूजा को काफी दिन पड़े हैं. ना ही आस-पास के किसी गांव में ही रामलीला हो रही है, जहां जाकर मां देख सके. कुछ सोचते हुए वह बोला, "देखने का तो नहीं हां, सुनने का उपाय किया जा सकता है. किसी रामायण सुनने वाले को घर पर बुलाना पड़ेगा."

"अरे, नहीं रे. मैं रामलीला की बात नहीं कर रही. मैं तो रमैण की बात कर रही हूं. टी. वी. वाली रमैण की... समझे! जिसका कैसिट भी मिलता है." मौसी उसे समझाते हुए बोली.

गुणाधर चौंका, "अच्छा तो आप रामायण सीरियल की बात कर रही हैं. क्षणांश में ही वह सारी बातें समझ गया कि, क्या माजरा है. यहां भाड़े पर वीडियो ला कर रामायण देखने की बातें हो रही हैं. इस चक्कर में होने वाले संभावित खर्च के बारे में सोच कर वह सबसे ज्यादा घबराया. उसने बात संभालने की कोशिश की,... "मगर मां कैसे देख सकेंगी? इतनी कमजोरी में उनकी तकलीफ और भी बढ़ जायेगी. आंखों पर जोर पड़ेगा सो अलग."

"तकलीफ का क्या है बेटा, "इस बार मां बोली थीं, "वह तो घटती बढ़ती रहती है. मगर रमैण देख लेने से भगवान के दर्शन तो हो जावेंगे."

मां की बातों ने गुणाधर की चिंता बढ़ा दी. महीने के अंत में वेतन लगभग ख़त्म हो चुका है. अगले माह का वेतन मिलने तक रोजमर्रा के खर्चों के अतिरिक्त मां की दवाएं भी लानी हैं. पहली बार उसके मन में बीसवीं सदी के सर्वाधिक मनोरंजक आविष्कार के प्रति ढेर सारी घृणा उत्पन्न हुई. उसने टी. वी. आविष्कारक जे. एल. बेयर्ड को गालियां देना शुरू कर दिया. वर्तमान आर्थिक स्थिति में वीडियो घर पर लाना उसके लिए असंभव था. उसने बड़ी आशा से भाभी की ओर देखा, शायद वे उसकी स्थिति समझ कर उसका समर्थन कर दें और रामायण देखने का प्रसंग समाप्त हो जाये. मगर भाभी के चेहरे से उसे निराशा ही हाथ लगी.

"लला, हमारी हालत तो तुमसे छुपी नहीं है. तुम्हारे भैया से बन पड़ता तो ये ज़रूर करते. मगर अब तो केवल तुम ही मां की रामायण देखने की इच्छा पूरी कर सकते हो." भाभी ने चेहरा घुमाया और पूर्ववत पांव दबाने लगी.

गुणाधर को लगा भाभी भी इस बहाने रामायण देखने को कम उत्सुक नहीं है. उसने एक बार फिर से मां को समझाना चाहा, "मां अभी तुम ठीक से दवाएं खा कर, जल्दी-से अच्छी हो जाओ. फिर मैं तुम्हे रामायण भी दिखा दूंगा."

मां ने उसे देखते हुए कहा, "बेटा ज़िंदगी का क्या भरोसा? क्या पता दवाओं के सहारे कब तक जीऊं ? एक बार रमैण देख कर राम जी के दर्शन कर लूं. अब तो यही अंतिम इच्छा है. उनकी कृपा से वैतरणी पार कर जाऊं, मेरा परलोक संवर जाये."

मां का याचना-पूर्ण स्वर सुन कर वह अंदर तक हिल गया. डॉक्टर की बात, 'अब मां की सेवा कर लीजिए', याद आते ही वह भावुक हो गया. उसे लगा, वह रो पड़ेगा.

"ठीक है मां, मैं कल वीडियो ले आऊंगा." उसने लेटते हुए कहा और आंखें बंद कर लीं. वह सेठ मूलचंद के बारे में सोच रहा था, उसी से उधार ले लेगा.

अगले दिन प्रति माह दस रुपये प्रति सैकड़ा की दर से उधार देते हुए सेठ मूलचंद ने दांत निकाले थे, "हें... हें... हें क्या बतायें गुणाधर बाबू, रुपये का इतना अवमूल्यन देख कर तो दस रुपये की दर पर पोसाई नहीं पड़ती है. लेकिन आप पुराने ग्राहक हैं फिर आपने सूद देने में कभी हुज्जत भी नहीं की, इसलिए आपको

पुरानी दर पर ही दे रहा हूं. वैसे नयी दर मैंने बारह रुपये कर दी है." मूलचंद ने उस पर अहसान करने के से अंदाज़ में कहा.

गुणाधर के जी में तो आया, कस कर एक घूंसा उसकी बत्तीसी पर धर दे. मगर वह खामोश खड़ा रहा. वह जानता था कि, वक़्त-बे-वक़्त उधार उसे मूलचंद से ही मिलता है.

"जी बड़ी मेहरबानी," कह कर वह वापस मुड़ा. 'स्साला सूदखोर', उसने मन ही मन सेठ को गाली दी. उधार का सूद तो ले लेता है, फिर अहसान क्यों जताता है?

मस्तिष्क की तरह ही गुणाधर की अंगुलियां भी लगातार अपना काम किये जा रही थीं. मानो विचारों में दौड़ते मस्तिष्क और 'की बोर्ड' पर नाचती अंगुलियों के बीच होड़ लगी हो, कौन ज्यादा काम कर पाता है.

'वीडियो पार्लर' वाले ने उसकी मांग सुन कर गंभीर मुद्रा बनायी और बोला, "रामायण का कैसेट मेरे पास नहीं है. वह दूसरी ज़गह से डबल रेट दे कर ब्लैक में लाना पड़ेगा. बीस रुपये प्रति कैसेट."

"यह तो बहुत ज्यादा है." गुणाधर ने तर्क करना चाहा था.

"कोई और फिल्म का कैसेट ले जाइए. दस रुपये में ही काम हो जायेगा." उसने निर्विकार भाव से उत्तर दिया था, "या फिर दो माह ठहर कर रामायण देख लीजियेगा. तब तक रेट ज़रूर घट जायेगा. अभी तो रामायण माने 'हॉट केक समझे!"

"नहीं, मैं ठहर नहीं सकता. मुझे तो आज ही देखना है." गुणाधर सोच रहा था क्या उपमा दी है, रामायण माने हॉट केक.

"तब तो बीस का ही रेट लगेगा." उसने अपना निर्णय सुनाया.

अंततः कोई उपाय ना देख, गुणाधर को राजी होना पड़ा. वीडियो पार्लर वाले ने वी. सी. पी. सेट, कैसेट और बैटरी सब का कुल भाड़ा जोड़ कर तीन सौ रुपये बताया. गुणाधर मूलचंद से मात्र दो सौ ले कर आया था. जबकि, वीडियो वाला पूरा भाड़ा अग्रिम मांग रहा था. गुणाधर उसे दो सौ दे तथा शेष एक सौ शाम को देने का वादा कर आ गया था. शाम को मूलचंद से एक बार फिर मिलना पड़ेगा, उसने सोचा था.

फीडर में कागज़ लगाते हुए उसने कलाई घड़ी पर नज़र डाली, घड़ी ने चमक कर समय बताया... पौने पांच - बाप रे! गुणाधर ने कमीज़ पर रगड़ते हुए पुनः घड़ी पर नज़र डाली. ससुराली घड़ी को उसने बड़ा सहेज कर रखा था. दो साल बाद भी उसकी चमक बरकरार है. अंगुलियों की रफ़्तार और बढ़ गयी.

काम ख़त्म कर ऑफिस से बाहर आ उसने हिसाब लगाया, पहले मूलचंद की गद्दी फिर बाजार जा कर वीडियो लेने में तो, साढ़े पांच वाली बस ज़रूर छूट जायेगी. एक ही रास्ता है, वह रिक्शे से जाये. तुरंत ही मन में कौंधा, 'रिक्शा भाड़ा फिजूलखर्ची ना होगी ?' वह ऑफिस से बस स्टैंड की दूरी रोज़ ही पैदल तय करता है, चाहे भीषण गर्मी हो या घनघोर वर्षा. शौक़ से नहीं विवशता से. रोज़ दस रुपये भी खर्च करने से एक महीने का कुल खर्च तीन सौ हो जायेगा. पैदल चलने से उसे हर माह तीन सौ की बचत होगी. हिसाब की सुविधा के लिए वह इतवार को भी कार्यदिवस के रूप में गिन लेता. भले ही सुदूर भूतकाल में उसके सपने... चमचमाती कारों, उम्दा कपड़ों, महंगे सिगारों के रहे हों. मगर हमारा वर्तमान गुणाधर नून, तेल, लकड़ी के चक्कर में बुरी तरह उलझ कर इस तरह के हिसाब-किताब में ख़ास माहिर हो गया है... लेकिन आज मैनेजर ने उसके लिए कोई भी विकल्प नहीं छोड़ा था.

रिक्शेवाले को मूलचंद का पता बता वह उचक कर चढ़ गया. रिक्शा चलते ही शाम की खुशनुमां हवा उसके चेहरे को सहलाने लगी, वह कुछ और आराम से बैठ गया. उसकी नज़रें सड़क से गुज़रते लोगों पर फिसलने लगीं. काश, कोई जान पहचान वाला आज उसे रिक्शे पर जाते देख ले, उसने सोचा. उस रास्ते पर पैदल चलते हुए, मिलने वाले परिचितों से वह अक्सर नज़रें चुरा लेता था. क्योंकि उनमें से कई आंखों में उसके लिए उपहास होता, "क्यों गुणाधर पैदल ही..." तब वह मन ही मन झेंप जाता. परंतु तीव्र अभिलाषा के बावजूद उसे कोई परिचित नज़र नहीं आया. यह पक्का है कि, कोई दिखता तो ज़ोर से अभिवादन कर वह उसका ध्यान अपनी ओर अवश्य ही खींच लेता कि, "आज वह पैदल नहीं है." लेकिन गुणाधर को रास्ते भर कोई ना मिला. ना ही उसे मूलचंद अपनी गद्दी पर मिला. नौकर ने बताया वह एक-आध घंटे में लौटेगा. गुणाधर प्रतीक्षा कर ले. उसने एक नज़र अपनी घड़ी पर डाली, वह नहीं रुक सकता. साढ़े-पांच वाली बस उसे अपनी छाती पर चढ़ती नज़र आयी. वह सदर बाजार की ओर मुड़ गया.

उसके ऑर्डर का सारा सामान तैयार था. वीडियो वाले ने रजिस्टर के पन्ने पलटते हुए उससे पूछा, "आपके सौ रुपये बकाया हैं ?"

"जी हां, वह आप कल ले लीजियेगा." गुणाधर ने झिझकते हुए कहा.

"मगर आपने तो शाम को देने का कहा था." दुकानदार का चेहरा जरा तन गया. पैसों का जुगाड़ नहीं हुआ कहते-कहते, गुणाधर ने अपना वाक्य सुधारा, "वो...आज ऑफिस में किसी ने ले लिये. कल वीडियो लौटाऊंगा तभी ले लीजियेगा."

"मोहन, ज़रा ठहरो." दुकानदार ने सामान बाहर निकालते लड़के से कहा. मोहन रुक गया. उसके हाथ में रामायण के कैसेट थे. गुणाधर ने मन ही मन दुहराया, 'हॉट केक.'

दुकानदार गुणाधर से मुखातिब हुआ, "देखिए आप ने कहा था, शाम को पैसे देंगे. अब कह रहे हैं कि कल देंगे. कल कहियेगा कि, नहीं देंगे तो मैं क्या करूंगा ? क्योंकि तब तक आप वीडियो देख चुके होंगे."

"बाकी पैसे क्यों नहीं दूंगा ?" मोहन के रुक जाने से गुणाधर चिंतित हो गया, "आपका भाड़ा बनता है, क्यों नहीं दूंगा? कल दे दूंगा, विश्वास कीजिए."

"कैसे विश्वास कर लूं? आपसे पहले भी कई लोग मेरे साथ ऐसा कर चुके हैं." दुकानदार पूरी तरह अड़ गया था.

"देखिए मैं उन लोगों में से नहीं हूं." देर होती देख गुणाधर चिंतित होने लगा, कहीं बस ना छूट जाये. मगर दुकानदार पर उसकी चिंता का कोई असर नहीं हुआ. वह टस से मस ना हुआ. तभी अपनी घड़ी पर नज़र पड़ने से उसे रास्ता सूझा. गुणाधर ने चमचमाती घड़ी खोल कर काउंटर पर रख दी.

"लीजिए, मेरी घड़ी रख लें. अब तो आप को विश्वास होगा. कल आपको बाकि सौ रुपये दूंगा तभी मेरी घड़ी वापस कीजियेगा." घड़ी उलट-पुलट कर देखते दुकानदार की आंखों में चमक आ गयी, परंतु ऊपर से उसने अनिच्छा दिखाई, "आपकी घड़ी नहीं, मुझे तो अपने बाकी पैसे चाहिए. इसलिए कल सौ रुपये ज़रूर दे दीजियेगा." कहकर उसने घड़ी रख ली.

"अब जरा जल्दी कीजिए." गुणाधर मन ही मन कुढ़कर रह गया. तुम्हारे सौ रुपयों से ज्यादा मुझे अपनी घड़ी की चिंता है. "चलो रे मोहन, जल्दी करो." दुकानदार ने हांक लगाई और उससे बोला, "मेरे स्टाफ को रात का खाना खिला दीजियेगा."

"आप बेफिक्र रहें, जो मैं खाऊंगा वही उसे भी खिलाऊंगा." मन ही मन बस ना छूटने की प्रार्थना करता गुणाधर मोहन और वीडियो-सेट के साथ बस-स्टैंड पहुंचा. इस बार किस्मत उसके साथ थी, उसे बस मिल गयी और बस में सीट भी. आश्वस्त होते हुए उसने सीट पर पीठ टिका कर आंखें बंद कर लीं. उसे लगा मानो, एक लंबी दौड़ जीत कर वह अभी-अभी रुका हो.

❑

पक्की सड़क छोड़कर बस के गांव की ओर मुड़ते ही तत्काल पता चल जाता है. ऐन मोड़ पर सड़क में एक गहरा गड्ढा है. बस के जोर-से झटका खाते ही पिछली सीट वाले यात्रियों की... हो... हो तथा सीटों की चीं... चों से पूरी बस गूंज उठी. गुणाधर का तो रोज़ का ही सफ़र था, वह पहले से ही संभल कर बैठ था. सड़क पर छितराये छोटे-बड़े गड्ढों से हो कर बस मंथर गति से बढ़ी जा रही थी.

"यह सड़क कभी नहीं सुधरती क्या ?" मोहन ने उसकी तरफ देखा.

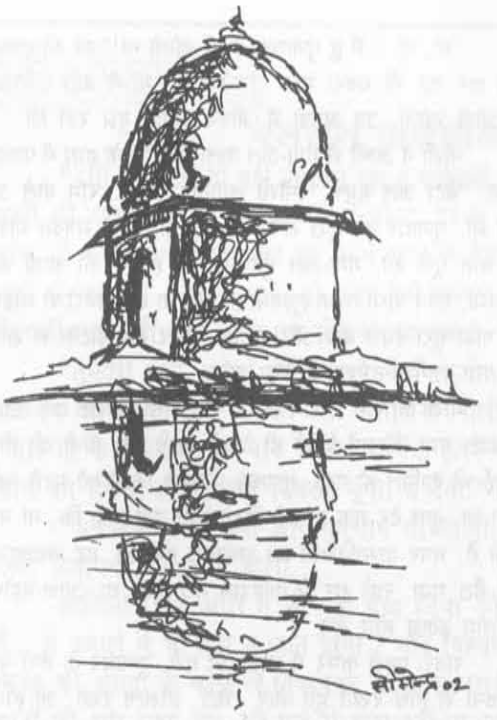

"सुधरती तो है, मगर सिर्फ चुनाव के मौसम में." गुणाधर ने मुस्करा कर ज़वाब दिया.

"... ताकि, नेताओं को इस पर झटके ना लगें." मोहन हंसते हुए बोला. उसकी बातें सुन कर गुणाधर को भी मज़ा आने लगा, "पहले तो पांच सालों बाद सड़क पर लीपा-पोती होती थी. मगर भला हो इन नेताओं और गठबंधन सरकारों का, अब सड़क पांच सालों में कई बार सुधर जाती है. इन उप-चुनावों को हम सब प्यार से सड़क सुधारी चुनाव कहने लग गये हैं."

"उसके ज़वाब से मोहन बड़ा खुश हुआ," एक ही बार सड़क पूरी सुधर गयी तो, अगले चुनाव में नेता क्या वादा करेंगे ? है ना उनके लिए धर्मसंकट!"

"और फिर बार-बार कमीशन मिलने की संभावना भी तो ख़त्म हो जायेगी." मोहन की हंसी में अपनी हंसी मिलाते हुए गुणाधर बोला. कुछ ऐसी ही बातों में हिलती-डोलती बस गुणाधर के गांव पहुंची. वीडियो-सेट, बैटरी आदि से लदे-फदे मोहन और गुणाधर ने घर पहुंच कर अभी सामान रखा ही था कि, भीतर से भतीजा दौड़ता हुआ बाहर निकला. वह काफी घबराया हुआ था. "चाचा जी जल्दी चलिए, दादी कैसे तो कर रही हैं." गुणाधर भीतर की ओर लपका. भाभी, मौसी, पत्नी सभी घबराये हुए मां को घेरे खड़े थे. बड़ी कठिनाई से सांस ले रही मां का पेट और छाती अजीब ढंग से फूल-पिचक रहे थे. थोड़ी-थोड़ी देर पर उनके शरीर को जोर से झटका लगता.

"मां, मां... मैं हूं गुणाधर, आंखें खोलो मां!" मां की हालत देख कर वह भी घबरा गया. उसने देखा, मां ने बड़ी कठिनाई से आंखें खोलीं. उन आंखों में जीवन ज्योति बुझ रही थी.

मौसी ने जल्दी से गंगा-जल वाला लोटा उसके हाथ में पकड़ा दिया, "बेटा जल डालो." मौसी लगातार राम... राम बोले जा रही थीं. गुणाधर को कुछ समझ नहीं आया, उसने यंत्रवत मौसी की बात पूरी की. गंगा-जल मुंह में जाते ही मां की आंखें बंद हो गयीं, गर्दन बांयीं तरफ लुढ़कते ही होंठों के बायें कोरों से थोड़ा-सा गाढ़ा-भूरा रक्त बहा और मां का शरीर एक झटके से शांत हो गया. हमेशा-हमेशा के लिए शांत...

मौसी का राम... राम बोलता स्वर अचानक रुक कर रुलाई में बदल गया, जिसमें देखते ही देखते भाभी और पत्नी की तीव्र रुलाई भी शामिल हो गयी. गुणाधर ने पहले किसी को मरते नहीं देखा था. कुछ देर तक तो उसे विश्वास ही नहीं हुआ कि, मां मर चुकी है. मगर वास्तविकता का अहसास होते ही, वह संज्ञाशून्य वहीं बैठ गया. सारे घर में कोहराम मच चुका था. आस-पड़ोस के लोग इकट्ठा होने लगे.

सबसे पहले कमरे में चाचा जी घुसे, गुणाधर के कंधे पर सांत्वना से हाथ रखते हुए बोले, "बेटा, हौसला रखो, जो होना था हो गया, दिल छोटा मत करो. उठो, अंतिम संस्कार के सारे प्रबंध तो तुम्हें ही करने हैं. इतना पढ़े-लिखे होकर तुम ही ऐसे रोओगे तो, कैसे चलेगा ?"

उसने डबडबाई आंखें उठा कर पूछना चाहा था, पढ़े-लिखे को मां की मृत्यु का दुख कम होता है क्या ? मगर मुंह से आवाज नहीं निकली. चाचा जी ठीक ही तो कह रहे हैं, बहुत सारे प्रबंध करने हैं. वह बाहर आ गया. पिताजी खाट पर बैठे रो रहे थे. पहले कभी उसने पिता जी को रोते नहीं देखा था, उनके आंसू देख कर वह तड़प उठा. पिताजी के पास जा कर दिलासा देने की ज़गह उसकी रुलाई फूट पड़ी. पिताजी ने उसे बांहों में भर कर सीने से लगा लिया. वे जल्दी-जल्दी अपने आंसू पोछने लगे, "ना... ना, गुणा चुप हो जा... देख मैं भी चुप हो गया. तुम्हारी मां इतनी ही उम्र ले कर आयी थी... भगवान की इच्छा के आगे हम क्या कर सकते हैं... ?" पिताजी अपने आंसू पोंछते हुए लगातार बोले जा रहे थे.

गुणाधर ने अपने जी को कड़ा किया और आंसू पोंछते हुए पिताजी से अलग हो कर बैठ गया.

चाचा जी ने आकर कहा, "गुणाधर, अर्थी के लिए बांस लाने मैंने आदमी भेज दिये हैं. सारे इंतजाम के साथ सूर्यास्त के पहले घाट पहुंच जायें तो, संस्कार आज ही हो जाये. इतनी गर्मी में शव को रात भर रखना ठीक नहीं है."

"हां, चाचा जी, मैं देखता हूं," कहकर गुणाधर उठ गया.

भीतर से आ रही आवाजों में मौसी की रुलाई भी छन कर बाहर आ रही थी, "अरे दीदी... आज तो ना मरती... आज तो बिटवा तेरे खातिर वीडियो भी लाया रहा... ऐसा सपूत भगवान सब को देवे... "

गुणाधर मोहन की ओर बढ़ा, "मोहन भाई, अपना सामान तुम बंधा ही रहने दो."

"जी सर, मुझे पता चल गया है. आपकी मां की मृत्यु का मुझे अफसोस है." मोहन ने सांत्वना प्रकट की.

उधर गुणाधर हिसाब लगा रहा था, वीडियो नहीं देखने से तीन सौ रुपये बच जायेंगे. कुछ इधर-उधर से पकड़ लेगा. अंतिम संस्कार का खर्च तो यहीं से निकल आयेगा. श्राद्ध आदि के समय तक तो वेतन के अलावा वह भविष्य निधि से कर्ज़ भी ले लेगा.

"मोहन अभी एक बस शहर को लौटने वाली है. हम उसी से चलते हैं, सामान लौटा कर मैं अपने पैसे और घड़ी वापस ले आऊंगा." गुणाधर बोला.

"सर लौटने की बात तो ठीक है, मगर आपके पैसे वापस नहीं मिलेंगे. वीडियो का भाड़ा तीन सौ तो आपको देना ही पड़ेगा." मोहन ने उसे बताया.

"पैसे क्यों नहीं वापस मिलेंगे ? अगर रामायण देखते तभी तो भाड़ा लगता." गुणाधर ने तर्क किया.

"सर, देखने की बात नहीं है. हम लोगों का बुकिंग सिस्टम चलता है, आप के नाम से बुक हो गया, इसलिए भाड़ा आपको देना पड़ेगा." मोहन ने समझाया.

परेशान गुणाधर को लगा, मोहन उसे उल्लू बना कर तीन सौ रुपये हड़पना चाहता है. वह गुस्से से बोला, "वीडियो देखो या न देखो, भाड़ा देना ही पड़ेगा यह जबरदस्ती नहीं चलेगी. ना तुम्हारा वीडियो चला ना ही बैटरी ख़त्म हुई, तब भाड़ा किस बात का देना होगा ?"

"देखिए सर, आप गुस्सा मत कीजिए. आपकी मर्जी है वीडियो नहीं देखने की, अगर हमारी मशीन वगैरह नहीं चलती तब आप भी हमारा गला पकड़ कर अपना पैसा वसूल लेते. फिर आपके लिए दूसरी दुकान से पूरा भाड़ा दे कर हम ब्लैक में कैसेट लाये हैं, वह तो हमें पैसे नहीं लौटायेगा." मोहन ने भी तीखे स्वर में ज़वाब दिया.

तेज आवाजें सुन कर घर में आये लोग उनकी तरफ देखने लगे थे. गुणाधर कुछ नर्म पड़ गया. उसने मोहन का कंधा पकड़ा और कुछ दूर हट कर कोने में, नीम के पेड़ के नीचे चला गया.

"देखो भाई, घर में मातम हो तो वीडियो कैसे देखा जा सकता है ? रही बात कैसेट की तो उसका जो भाड़ा तुम दे चुके हो, वह मैं छोड़ दूंगा. तुम्हारे मालिक को जब मां की मौत का

लघुकथा

अकेले भी घुलते होंगे पिताजी

✍ बलराम अग्रवाल

पांच सौ... पांच सौ रुपये सिर्फ... यह कोई बड़ी रकम तो नहीं है, बशर्ते मेरे पास होती - अंधेरे में बिस्तर पर पड़ा बिज्जू करवटें बदलता सोचता है - दोस्तों में भी तो कोई ऐसा नज़र नहीं आता है जो इतने रुपये जुटा सके...सभी तो उसके जैसे हैं, अंतहीन जिम्मेदारियों वाले... लेकिन यह सब मां को, रज्जू को या किसी और को कैसे समझाये वह... समझाने का सवाल भी कहां पैदा होता है...रज्जू अपने ऊपर उड़ाने-बिगाड़ने के लिए तो मांग नहीं रहा है रुपये... फाइनल का फॉर्म नहीं भरेगा तो प्रीवियस भी बेकार हो जायेगा उसका और कंपटीशन्स में बैठने के चान्सेज़ भी कम रह जायेंगे... हे पिता ! मैं क्या करूं ... तमसो मा ज्योतिर्गमय... तमसो मा...!

"सुनो !" अचानक पत्नी की आवाज सुनकर वह चौंका.

"हां!" उसके गले से निकला.

"दिनभर बुझे-बुझे नज़र आते हो और रातभर करवटें बदलते." पत्नी अंधेरे में ही बोली, "हफ्तेभर से देख रही हूं... क्या बात है ?"

"कुछ नहीं." वह धीरे से बोला.

"पिताजी के गुज़र जाने का इतना अफ़सोस अच्छा नहीं. हिम्मत से काम लोगे तभी नैया पार लगेगी परिवार की. पगड़ी सिर पर रखवायी है तो..."

"उसी का बोझ तो नहीं उठा पा रहा हूं शालिनी." पत्नी की बात पर बिज्जू भावुक स्वर में बोला, "रज्जू ने पांच सौ रुपये मांगे हैं फाइनल का फॉर्म भरने के लिए कहां से लाऊं ?... न ला पाऊं तो मना कैसे करूं ?... पिताजी पता नहीं कैसे मैनेज़ कर लेते थे यह सब."

"तुम्हारी तरह अकेले नहीं घुलते थे पिताजी.... बैठ कर अम्मा के साथ सोचते थे." शालिनी बोली, "चार सौ के करीब तो मेरे पास निकल आयेंगे. इतने से काम बन सकता हो तो सबेरे निकाल दूंगी, दे देना."

"अब घुलना बंद करो और चुपचाप सो जाओ." पत्नी हिदायती अंदाज़ में बोली.

शालिनी ! तूने अंधेरे में भी मुझे देख लिया और मैं... मैं उजाले में भी तुझे न जान पाया ! भाव विह्वल बिज्जू की आंखों के कोरों से निकलकर दो आंसू उसके कानों की ओर सरक गये. भरे गले से बोल नहीं पा रहा था इसलिए कृतज्ञता प्रकट करने को अपना दायां हाथ उसने शालिनी के कंधे पर रख दिया.

"दिन निकलने को है. रातभर के जागे हो, पागल मत बनो." स्पर्श पाकर वह धीरे से फुसफुसाई और उसका हाथ अपने सिर के नीचे दबाकर निश्चेष्ट सो गयी.

एम-७०, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२.

पता चलेगा तो, वह मेरे पैसे ज़रूर लौटा देगा." गुणाधर ने मोहन को समझाते हुए कहा, हालांकि वह जान चुका था कि जब मोहन ही नहीं मान रहा तो, उसका मालिक कैसे मानेगा ? उसने तो सौ रुपये के लिए घड़ी खुलवा ली थी. गुणाधर ने सोचा, काश उस वक़्त घड़ी देने की ज़गह वह वीडियो ही छोड़ देता तो, अभी मोहन से इतनी याचना तो ना करनी पड़ती.

"देखिए सर, आप भी मेरी बात नहीं समझ रहे. कैसेट की तरह ही आप वीडियो के पैसे भी छोड़ दीजिए. इसको ऐसे समझिए, अगर आप बुक नहीं करते तो हमारा वीडियो कहीं और बुक हो जाता, हमारा भाड़ा तो मार नहीं खाता." मोहन का तीखापन बरकरार था. मोहन के अड़ियल रुख से गुणाधर को फिर गुस्सा आने लगा. उसकी आवाज फिर से तेज हो गयी, "तुम लोगों ने लूट मचा रखी है. एक तो भाड़ा ज्यादा रखा है ऊपर से सारा पैसा एडवांस में ले कर बाद में रंगदारी करते हो. तुम्हारी रंगदारी नहीं चलेगी, पैसे तो लौटाने ही पड़ेंगे चाहे जैसे लौटाओ."

❑

गुणाधर की बात का ज़वाब मोहन ने भी उतनी ही तीव्रता से दिया होगा. फिर एक दूसरे को देख लेने के प्रण भी संभवतः दोनों ने किये होंगे...

अगर यह कहानी तीस-चालीस साल पहले लिखी जाती तो, इसका अंत मैं अकेला ही बता देता. लेकिन भूमंडली-करण और मुक्त-अर्थव्यवस्था के इस दौर में जहां सारी चीज़ें, सारे रिश्ते बाज़ार में तय किये जा रहे हैं, इस कहानी का अंत आप सब को बताना पड़ेगा...!

द्वारा लवली, ब्लॉक-एफ, संख्या-९, कदमा बाजार, पो. कदमा, जमशेदपुर ८३१००५ (झारखंड)

कहानी

एक चिट्ठी अहमदाबाद से

"ख़त आया है अम्मी," नीलोफर आवाज़ देती है. "किसका है, ज़रा देख ?" रबिया रसोई से ही पूछती है. "आयशा खाला का है अम्मी, अहमदाबाद से." रबिया दोनों हाथ ऊपर उठा देती है, "अल्लाह खेरु रसूल उल्लाह. आपा सलामत हैं. मेरी फिक्र मिटी," रसोई से बाहर आती रबिया बोलती रहती है मगर जवान बेटी को गुमसुम देख चौंकते हुए ख़त पकड़ लेती है. ख़त के ऊपर अल्फाज़ों के साथ धब्बे ही धब्बे थे. रबिया समझ जाती है कि आंसू बहाते हुए लिखा है आपा ने ख़त. दिल की सात परत के नीचे शहतीर चटखती है. ख़त के अल्फाज़ धुंधले हो जाते हैं. खुद अपनी आंखें भी गीली हो गयी थीं, उन्हे पोंछ रबिया पढ़ती है ... प्यारी रबिया, दुआ ! कलेजा जब सख़्त हो गया है तब तुम्हें ख़त लिखने की हिम्मत जुटा पा रही हूं. तुम्हारी मजबूरी मैं समझ सकती हूं... इस जलते जंगल में हमें तलाशते आते तो तुम लोग भी नहीं बचते. हमारी तरह किसी सुलेमान या रहमत कैंप में पहुंच जाते. हाल तो टीवी पर देख लेती होगी. जो इस शहर का हाल है वही हमारे हालात हैं. जाने क्यों अल्लाह ने भी उन गलियों से गुज़रना बंद कर दिया है जहां जलते हुए मकान, दूकानें और जिस्म चीख चीखकर इसे पुकारते हैं. शायद अल्लाह चैनो अमन वाली बस्तियों में ही अब गश्त लगाता है.

जिस दिन गोधरा में मुसलमानों की भीड़ ने पचास-साठ हिंदू कार सेवकों को रेल के डिब्बे में भून दिया था हमें अहसास हो गया था कि ज़ालिमों का बदला मज़लूमों से लिया जायेगा, मगर बदला इतना ख़ौफनाक होगा हमने सोचा नहीं था.

दूसरी रात ही हम शहर छोड़कर निकल जाना चाहते थे कि रमेश भाई शाह आ गये... कहीं जाना नहीं है शम्स भाई. भूकंप के दिनों में हमने मिलकर मौत से मुकाबला किया है.

ख़ुश हो गयी थी सनोवर... देखा अम्मी, ये गांधी का सूबा है यहां नफ़रत पर मोहब्बत काबिज़ होती है. उकील की भी यही राय थी कि उसके दोस्त हम सबकी हिफाज़त जी जान से करेंगे. ख़ामोश से, गुमसुम थे तुम्हारे इलहा भाई. दोनों बच्चे जब हट गये तो मुझसे बोले थे ..."मज़हब लड़ना नहीं सिखाता मगर जब मज़हब गुंडों के हाथ पड़ जाता है तो इन्सान इन्सान नहीं रहता है. उकील, उर्मिला मातोंडकर और गोविंदा का दिवाना है. इस पसंद और न पसंदगी में मज़हब बीच में कहां आता है ? एक मुर्दा मस्जिद को तोड़ कितने हिंदू गाज़ी बनना चाहते हैं ? मगर वे मुसलमान और वे हिंदू जो गुंडागर्दी से दूर रहना चाहते हैं उनका वजूद गुंडों के मुकाबले में सामने नहीं आता है इसीलिए लड़ाई, दंगे, झगड़े और आगज़नी इस मुल्क में आम बात हो गयी है. यहां से जो मुसलमान पाकिस्तान गये वे आज भी मुहाजिर हैं और जो हिंदुस्तान में हैं उन्हें पाकिस्तानी समझा जाता है. शक की उंगली उन पर तनी रहती है. इस गोरी कौम ने अफगानिस्तान से नज़ीब की सल्तनत मिटाने के लिए तालिबान पैदा किये थे. अब यही गोरी कौम तालिबानों के नाम पर पूरी दुनिया के मुसलमानों को टैररिस्ट की शक्ल में पेश करती है. हर मुसलमान में उन्हें लादेन दिखाई देता है. जो खुद देखते हैं उसी को औरों को दिखाना चाहते हैं. सगे बनकर ख़ैरात के बहाने अपना बाज़ार लादना चाहते हैं. उनका बाज़ार संभालो या गारत हो." तभी बच्चे आ गये थे.

विजय

"जी अब्बा इन्हीं के सौंपे हथ्यार लेकर अफगानी मर्सनरी कश्मीर में घुसते थे. इन्हीं की वज़ह से हिंदुओं को कश्मीर छोड़ना पड़ा और अब वहां के मुसलमानों की ज़िंदगी गारत हो रही है," सनोवर ने कहा था.

"मगर यहां तो हालत यह है कि पुलिस से मिलकर नर्कोटिक्स बेचता हिंदू तो देशभक्त है और अमन पसंद मुसलमान शक के निशाने पर ! पर गोधरा के मुसलमान कैसे पागल हो गये ? इस वक़्त हमें बहस छोड़ हिफाज़त की बात सोचना चाहिए."

"हिफाज़त ! कैसे होगी हिफाज़त ? क्या यह गश्त लगाती पुलिस किसी की हिफाज़त करेगी ? वह मुल्क जिसकी हिफाज़त करनेवाली ताकत और इंसाफ करने वाली इंस्टीट्यूशन्स बेईमान हो जायें उस मुल्क में अंदर ही अंदर दीमक लग जाती है. पुलिस और डकैत की बदूंकों की गोलियों में तब इंसाफ पसंद वाशिंदा फर्क नहीं कर पाता है. यहां कोई भी घर किसी भी वक़्त गैस चैंबर बन सकता है. महफूज़ रहते हैं गुंडे - हिंदू गुंडे और मुसलमान गुंडे", उकील जो हमेशा क्रिकेट और फिल्म की बातें करता था आज संजीदा था.

"खुदा खैर करे", मेरे मुंह से निकला था.

"क्या हम रमेश भाई शाह पर ऐतबार कर सकते हैं ?" सनोवर ने पूछा.

"उन पर ऐतबार न रखने की वज़ह नहीं है मगर जब हमलावर ही बाहर के हों तो ऐसे लोग भी लाचार हो जाते हैं... अपनी जान बचाना ही उनको मुश्किल हो जाता है."

"फिर ?" उकील ने पूछा था.

तभी बड़े पोशीदा तरीके से दरवाज़े पर कुछ साये उभरे. छत से उकील ने झांका और बताया - अलताफ भाई हैं. वे अंदर आये... घबराइए नहीं. मस्जिद में हमारे नौजवान अस्लाह के साथ तैयार बैठे हैं. कल कासिम मियां आयेंगे. उन्हें आप कुछ और अस्लाह ख़रीदने के लिए दस हज़ार दे दीजिएगा.

अलताफ भाई जैसे आये थे निकल गये. कराह उठे थे उकील के अब्बू. "अब हमें गुंडों की नुमायंदगी कुबूल करनी होगी जान बचाने के लिए." काफी देर तक हाथ मलते हुए वे कमरे में घूमते रहे थे. उकील छत पर कुर्सी डाल बैठा रहा. सनोवर सहेलियों को फोन मिलाने की कोशिश करती रही, मगर हर ज़गह ज़वाब था... घर में नहीं है. रात एक बजे उकील हड़बड़ाता नीचे आया... "हर घर में आग लगायी जा रही है. पीछे के दरवाज़े से बाहर निकलिए."

मैंने ज़ेवर का डिब्बा दोपट्टे में लपेटा. सनोवर और उकील ने डंडा और छुरी ली. उकील के अब्बा ने नोटों को जेब में ठूंसा. एक आह उनके मुंह से निकली... दूकान भी जल गयी होगी. गीता, कुरान और बाइबिल भी और किताबों के साथ जल रही होंगी.

बाहर भीड़ लड़ रही थी... छुरे, तलवार, पेट्रोल बम, त्रिशूल और तमन्चे चल रहे थे. हम बिछड़ गये. अंधे होकर भागे. कौन किधर गया पता ही नहीं चला. गिर कर मैं बेहोश हो गयी. होश आया तो ख़ुद को एक घर में पाया. डर गयी कि कहीं मुझे गारत करने के लिए तो नहीं लाया गया है, मगर कुछ ही देर में डर मिट गया जब एक औरत चाय लेकर आयी. मैंने देखा कि मैं एक हिंदू के घर में हूं... पर उकील, सनोवर और उनके अब्बू ! कमरे में आये मर्द ने तसल्ली दी, "घबराओ नहीं बेन. झगड़े जल्द खत्म होंगे. सब मिल जायेंगे."

मगर जल्द ही उन्हें फोन कर पुलिस के जरिए मुझे रिलीफ कैंप मे भेजना पड़ा. क्योंकि दंगाई रोज़ रात में दरवाज़ा भड़भड़ाने लगे थे. उन्हें मार डालने की धमकी दी जा रही थी. रिलीफ कैंप में उकील को देख मेरी रूह हरी हो गयी. मैंने पूछा, "तेरे अब्बू और सनोवर ?"

मगर उकील बता रहा था, "हमारा घर जल गया. आस-पास के आठ घरों के लोग बाहर नहीं निकल सके. उनकी जली लाशें मैं ख़ुद देख कर आ रहा हूं. मैंने ख़ुर्शीद का जला मुंह देखा और हलीम को तो आग ने मुर्गामुसल्लम की तरह भून डाला था."

मैं रो पड़ी, "मैं तेरे अब्बू और सनोवर के बारे में पूछ रही हूं."

विनय

जन्म एवं शिक्षा आगरा में

प्रतिष्ठित कहानीकार एवं उपन्यासकार,
'कथाबिंब' के हितैषी एवं नियमित कथाकार.

"बहुत चीखे थे अब्बू, मैं बेगुनाह... ! मैं थूकता हूं गोधरा के ज़लील कमीनों पर. पर... "

"पर क्या ? बोल उकील."

"मैं दुकान के तख़्ते के नीचे नाली में पड़ा उनकी चीखें सुनता रहा. ख़ामोशी छा जाने पर बाहर निकला तो वहां अब्बा का लहू था मग़र लाश नहीं. शायद किसी जलते मकान या दुकान में जलने के लिए लाश फेंक दी गयी होगी."

मैं पत्थर बन गयी. मुंह से बस इतना निकला, "और सनोवर ?"

ज़हरीली हो गयी थी उकील की आवाज़, "इसी कैंप में मुंह छुपाये पड़ी है." बेहोश होते-होते मेरे ज़हन से उकील के अब्बू जो इकबाल की नज़्म... सारे जहां से अच्छा हिंदूस्तान हमारा, गाते थे बाहर कूद पड़ी. उनका यह कहना कि कभी सल्तनत के लिए लड़ते थे हिंदू और मुसलमान. अब तो डेमोक्रेसी है. चुनाव हैं. मेरे दिमाग से बाहर निकल गये. रूह गाज़ी और गज़नी को पुकारने को लरज़ी मगर तभी सनोवर आ गयी. मेरा सिर उसकी गोद में था.

होश आया तो सनोवर को अपनी तरफ खींच लिया, "दोज़ख में जले उनके खानदान जिसने मेरी बेटी को गारत किया."

हैरत में रह गयी जब सनोवर को कहते सुना, "अम्मी मुझे किसी हिंदू ने गारत नहीं किया. जिसने मुझे गारत किया वह आदमी नहीं दरिंदा था. औरत इस सिलसिले की पुरानी कड़ी है. ख़ुदा जो नेक लोगों को बचाता है क्यों नहीं आया मुझे बचाने ? पुलिस वाले जिस पर मुल्क बेइंतहा पैसा ख़र्च करता है वे तन्ख्वाह तो सरकार से लेते हैं लेकिन कोई भी नाजायज़ काम उनकी जेबें भर कर किया जा सकता है. इसीलिए गुनाह रोकना उनका काम

नहीं रहा है. हमने कब इस पुलिस के ख़िलाफ बगावत की ? और ये नेता जो हमारे लिए पार्लियामेंट सिर पर उठाये हैं क्या हमारे मददगार हैं ? इनमें से सब आने वाले चुनावों पर नज़र रखे हैं वरना क्यों नहीं अहमदाबाद की गली-गली में खड़े होते. मुसलमानों और दलितों के हिमायती लखनऊ में अपनी सरकार बनाने में मुब्तिला हैं. ये ह्यूमन राइट वाले जो हमारे लिए बोल रहे हैं, यहां गलियों में क्यों नहीं खड़े होते. ये भी पुलिसवाले जैसे हैं जो सब कुछ हो जाने के बाद आंकड़ों को लेकर लाशों की बाबत बोलते हैं. जानती हो क्यों एक गांधी के बाद दूसरा गांधी इस मुल्क में पैदा नहीं हुआ ? क्योंकि हर सियासी पार्टी और हर महकमे में अब गोडसे और गोडसे ही हैं."

"इससे तो हम भी पाकिस्तान में होते," मेरे मुंह से निकला.

"वहां हम मुहाज़िर होते. हमारा पूरा मुसलमान होना भी शक में आ जाता."

"फिर हम कहां जायें सनोवर ?"

"हम जहां हैं उसी ज़मीन को इन्सानों के रहने लायक बनाये अम्मी."

"तुम पागल हो सनोवर. मैं अब एम. बी. ए. नहीं करूंगा. इस्लामी नौजवानों की छापामार टोली बनाऊंगा," उकील गर्जा था.

"जी हां ! आप एक गोधरा बनायेंगे और हिंदुस्तान का कोई एक शहर अहमदाबाद बन जायेगा."

ख़ामोश सा कैंप अचानक चीखों से भर गया था... इस नन्हें के कमाऊ बाप को मार डाला. बताओ मैं कैसे पालूं...? मेरे पांचों ज़वान बेटे और दुलहनें कत्ल कर दी गयीं. तुम तलवार से मेरा सिर भी कलम कर दो.

...चीखें ही चीखें उभर रही थीं. किसी नेता के साथ सोशल वर्कर्स और सरकारी अमला आया था. इस अमले में औरतें भी थीं. एक सरकारी अफसर के आगे तनी खड़ी थी सनोवर, "अमन बनाने और शहर की तरक्की के लिए आपको सरकार ने रखा था. क्या किया आपने ? इस कत्लेआम के आप जिम्मेदार हैं."

"हम मुआवज़े की सिफ़ारिश कर रहे हैं."

"दीजिए मेरी लुटी इज्जत का मुआवज़ा. ले आइए अपनी बहन बेटी को और लुटवाइए उसकी इज्जत. गैर जिम्मेदारी आपकी और खाली करने के लिए खज़ाना सरकारी. हमारी जूती हमारे ही सर. आप बिके हुए हैं सौराष्ट्र के तिजारतियों के हाथ. उन्हें हमारी ज़मीन और मकान चाहिए थे. आपकी जेबें भरीं. हमारी अस्मत लुटी और सैकड़ों कत्ल हुए. क्यों नहीं सरकारी अफसरों और पुलिस वालों की ज़मीन ज़ायदाद से और उन तिजारतियों की तिजोरी से मुआवज़ा दिया जाये ?" सनोवर तनी हुई थी. सोशल वर्कर्स के सिर झुके हुए थे. हंसा था फिततरी नेता, "गुस्से में है लड़की. गुस्सा वाज़िब है."

मैं जानती थी ये सब गुनाहों के बुत हैं. इनके सामने सिर फोड़ने से कुछ नहीं होगा, इसलिए आवाज़ दी, "सनोवर!"

नेता आगे बढ़ गया. अब इसके साथ फरियादियों की भीड़ थी जिसे सरकारी अमला मुस्तैदी से रोक रहा था.

सनोवर लौट आयी. मैंने समझाया, "क्यों इनके मुंह लगती है ?" सनोवर तन गयी, मैंने इनका मुगालता तोड़ा है अम्मी कि हम भी असली गुनहगारों को पहचानते हैं. मेरी आवाज़ कल हजारों-लाखों की आवाज़ बनेगी.

उकील हैरत भरी नज़रों से उसे देखता रहा. आज तक का हाल मैंने लिखा. आगे मौका मिलते ही लिखूंगी. अभी अहमदाबाद का रुख़ मत करना. यहां अभी भी गलियों और सड़कों पर अंगारे जलते हैं.

खुदा हाफिज़ !

तुम्हारी आपा, आयशा."

ख़त पर रबिया के आंसू भी बिखर उठे थे और अल्फाज़ धुंधले हो चले थे.

११५-बी, पॉकिट जे एंड के,
दिलशाद गार्डन, दिल्ली-११० ०९५

दोहे

समय ले गया लूट कर...

✍ जय चक्रवर्ती

आंसू अपने दर्द का, कैसे करे बखान ।
जिनमें था, वे ही हुई, आंखें रेगिस्तान ।।

जो पत्थर देता रहा, जितने गहरे घाव ।
मंडी में उसके लगे, उतने ऊंचे भाव ।।

पत्थर के इस शहर में, पत्थर के इन्सान ।
पत्थर के ही भक्तगण, पत्थर के भगवान ।।

समय ले गया लूटकर, सपनों की टकसाल ।
जिये उम्र भर पेट के, हमने कठिन सवाल ।।

कितने पैने हो गये, मौसम के नाखून ।
फुलवारी की देह से, टपक रहा है खून ।।

बंटे दायरों में सभी, कान्हा-गोपी-ग्वाल ।
यादों में रसखानजी, खुद को रहे खंगाल ।।

कौन सिसकियों को सुने, इस बस्ती में शोर ।
चप्पे-चप्पे पर यहां, काबिज़ आदमख़ोर ।।

एम I/१४९, जवाहर विहार,
रायबरेली २२९ ०१० (उ. प्र.)

कहानी

अनुराग वर्मा को अनुराग वर्मा ही रहने दो !

गिरधर बाबू ने बातों का सिलसिला जारी रखते हुए कहा- उन दिनों मैं कंपनी की चयन समिति का अध्यक्ष था. कंपनी की नयी ब्रांच खुल रही थी. बहाली जोरों पर थी. सुबह से शाम तक साक्षात्कार चलते रहते थे. उस दिन भी दो प्रत्याशी जा चुके थे. तीसरा फॉर्म जब मेरे सामने आया तो फॉर्म पर चिपके चित्र को देख कर मैं चौंक सा उठा. यह तो मेरे बहुत ही करीबी मित्र अगस्त शुक्ला के कॉलेज के दिनों की तस्वीर थी. जब प्रत्याशी को देखा तो लगा कि युवा अगस्त मेरे सामने खड़ा है. लेकिन वह अगस्त शुक्ला नहीं अनुराग वर्मा था. साक्षात्कार के दौरान मैंने पूछा भी कि क्या वह किसी अगस्त शुक्ला को जानता है ? तो उसने 'न' में अपना सिर हिला दिया. अंत में योग्यता के आधार पर चयन समिति द्वारा वह चुन लिया गया.

अगस्त शुक्ला कॉलेज से विश्वविद्यालय तक मेरा सहपाठी होने के साथ-साथ मेरा ख़ास मित्र भी था. यूं तो सब कुछ सामान्य ही था पर अगस्त के व्यवहार में एक विचित्रता-सी थी. कभी क्षणिक आवेश में वह कौन सी हरकत कर बैठेगा, यह बताना जितना हम लोगों के लिए मुश्किल था उतना ही शायद उसके ख़ुद के लिए भी. किसी क्षण विशेष में वह क्या कर रहा है, उसका परिणाम क्या हो सकता है इस बारे में शायद वह कतई सोचता नहीं था. "जो बीत गया वह बात गयी," यही उसका सिद्धांत था.

एक बार एक परीक्षा के दौरान प्रश्न-पत्र मिलने के करीब पंद्रह मिनट बाद ही वह परीक्षा छोड़ कर जाना चाहता था. कॉपी लेकर वह इनविजिलेटर के पास पहुंच भी गया. लेकिन इनविजिलेटर ने यह कह कर कि, नियमानुसार कोई भी परिक्षार्थी पहले घंटे के बाद ही परीक्षा भवन से बाहर जा सकता है, कॉपी लेने से मना कर दिया. झक मार कर वह कॉपी सहित अपनी सीट पर वापस जा बैठा. प्रश्न-पत्र पर दुबारा नज़र डाली और कॉपी खोल कर लिखना शुरू कर दिया. उसका लिखना तब तक जारी रहा जब तक कि फाइनल घंटी नहीं बज गयी. हमें आश्चर्य तो तब हुआ जब उसी पेपर में उसे सबसे अधिक अंक मिले.

पढ़ाई समाप्त कर मुझे बंबई में नौकरी मिली और अगस्त इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हो गया. अलग-अलग शहरों में रहने के बावजूद भी हमारा संपर्क बना रहा. जब कभी मेरा इलाहाबाद जाना होता या अगस्त बंबई आता तो हम एक दूसरे के ही मेहमान बनते. यह क्रम अभी भी जारी है. हमारी शादियां भी थोड़ा ही आगे पीछे हुईं. मैं एक बेटे और एक बेटी का बाप बना. लेकिन अगस्त को बाप बनना नसीब नहीं हुआ. उन दोनों ने काफी इलाज कराया किंतु सफलता नहीं मिली.

काम की अधिकता के कारण मैं अनुराग वर्मा के बारे में भूल ही गया था. अचानक मेरा इलाहाबाद जाने का प्रोग्राम बन गया. उसी दिन लिफ्ट में अनुराग भी दीख गया. करीब एक सप्ताह तक इलाहाबाद में रुकना था इसलिए श्रीमती जी भी साथ चलने को राजी हो गयीं. एक लंबे अर्से के बाद हमारा इलाहाबाद जाना हो रहा था. स्टेशन पर अगस्त और भाभी जी हमें लेने आये थे.

दिन भर तो काम की भाग दौड़ रहती थी और शाम को हमारी हंसी ठहाके की बैठक. बातचीत चलती रहती थी, विषय कुछ भी रहता था. एक दिन शाम को थोड़ी बारिश हो गयी. दूसरे दिन कोई सार्वजनिक छुट्टी थी. हमारी बैठक जमी हुई थी और देर रात तक चलने वाली थी. चाय और पकौड़ों का दूसरा दौर ख़त्म हो चुका था. अचानक मेरी नज़रों के सामने अनुराग वर्मा का चेहरा घूम गया. बातों का रुख़ पलटते हुए मैंने कहा - मेरी ही तरह शायद आप लोगों ने भी पढ़ा या सुना होगा कि भगवान हर एक आदमी का डुप्लीकेट बनाता है. दो चेहरे भी कभी-कभी इतने मिलते-जुलते होते हैं कि लगता है कि दोनों एक दूसरे के डुप्लीकेट हैं. जुड़वां या घनिष्ट संबंधों में ऐसा तो देखने में आता है. लेकिन मैं जिन दो चेहरों की बात कर रहा हूं वे डुप्लीकेट होते हुए भी एक दूसरे से कतई परिचित नहीं हैं और मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि उनका आपस में दूर-दूर तक कोई संबंध भी नहीं है. उनमें फर्क है तो उम्र का. कोई तीसरा व्यक्ति उन्हें एक साथ देखे तो बाप बेटा ही समझेगा.

--किस आधार पर आप दावा कर रहे हैं कि उनका आपस में कोई संबंध नहीं है ? कितने दिनों से जानते हैं आप उन दोनों को, पत्नी ने टोका.

--बड़े को तो एक लंबे अर्से से और छोटे को कुछ महीनों से. मैंने कहा.

--जिसे तुम लंबे अर्से से जानते हो, क्या मैं भी उसे जानता हूं ? यह अगस्त की आवाज थी.

--बिल्कुल! तुम उसे सिर्फ जानते ही नहीं, इतनी अच्छी तरह पहचानते हो कि शायद ही कोई दूसरा उसके बारे में इतना जानता होगा क्योंकि वह कोई और नहीं तुम ही हो अगस्त.

अब सबके चौंकने की बारी थी.

भाभी जी ने कहा --पहेलियां मत बुझाइए भाई साहब! साफ़-साफ़ कहिए कि किसकी सूरत इनसे मिलती है? अपने मां बाप के ये इकलौते बेटे हैं, कोई बहन भी नहीं है इनकी, यह तो आप जानते ही हैं. फिर इनकी सी सूरत वाला वह है कौन?

--जिसके बारे में आप जानना चाहती हैं, वह मेरी ही कंपनी में कुछ महीने पहले इंजीनियर बहाल हुआ है. नाम है अनुराग वर्मा. इसीलिए मैंने जोर देकर यह बात कही थी कि इनका आपस में कोई संबंध नहीं है. लेकिन मैं ख़ुद इस प्रश्न का उत्तर नहीं ढूंढ़ पा रहा हूं कि इनके चेहरे की इतनी समानता का राज़ क्या है? ख़ैर! जाने दीजिए इस बात को. और वह बात वहीं ख़तम हो गयी.

हमारे बंबई लौटने के करीब एक महीने बाद अगस्त का फोन आया कि वह दो दिनों के लिए बंबई आ रहा है और अकेला ही आ रहा है.

जिस दिन अगस्त आया, संयोगवश उसी शाम को अनुराग भी पहली बार घर आया था. हमारी बातचीत शुरू ही हुई थी कि पड़ोसी ने बाहर से आवाज़ दी. उन दोनों को बातचीत जारी रखने को कह कर और जल्द ही वापस लौटने का वादा कर मैं बाहर निकल गया. बिल्डिंग में किसी के घर चोरी हो गयी थी, उसी विषय पर विचार विमर्श के लिए लोग इकट्ठे हुए थे. समय थोड़ा ज्यादा ही लग गया. वापस आया तो अनुराग जा चुका था. श्रीमती जी ने उससे आग्रह भी किया था कि खाना खाकर जाये. लेकिन किसी आवश्यक काम की दुहाई देकर वह निकल गया. दूसरे दिन रात की गाड़ी से अगस्त भी वापस चला गया.

दूसरे ही महीने मुझे आठ महीने के लिए जर्मनी जाना पड़ा. पत्नी भी साथ थी. वापस आने पर श्रीमती जी तो परिजनों से मिलने मैके चली गयीं किंतु मुझे आवश्यक कार्यवश बंबई में ही रहना पड़ा. अचानक एक रात को अगस्त आ धमका, अकेला ही. मैंने कहा, --ठीक समय पर आये हो अगस्त! मैं इन दिनों अकेला बोर हो रहा था. तुम्हारा इस समय यहां आना मुझे कितना सुकून दे रहा है इसका वर्णन मैं नहीं कर सकता. खाने का वक़्त भी हो रहा है. चलो साथ मिल कर खाना पकाते हैं. खाना भी पकता रहेगा और बात भी होती रहेगी.

खाना बन भी गया और हम खाना खाने बैठ भी गये. अगस्त आज ज़रूरत से ज्यादा गंभीर लग रहा था. मैंने कारण पूछा तो गंभीरता के साथ ही उसने कहा -- गिरधर, मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर लाया हूं.

अनिमा नेरा

२५, मई १९५१, मधेपुरा (बिहार);

बी. एस-सी.

लेखन : *छुटपुट लेखन के कई प्रयास. किंतु किसी प्रतिष्ठित पत्रिका में यह पहली कहानी.*

संप्रति : *स्वतंत्र लेखन.*

--किस प्रश्न का उत्तर! मैंने उत्सुकता से पूछा.

--उसी प्रश्न का कि अनुराग वर्मा की सूरत मुझसे इतनी क्यों मिलती है ?

--क्यों मिलती है ? मैंने वही प्रश्न फिर उछाला.

--क्योंकि अनुराग मेरा ही बेटा है. मेरा ही, पर बिल्कुल अनजाना बेटा.

मैं हंस पड़ा. --भई! तुम्हारी बात मेरी समझ में बिल्कुल ही नहीं आ रही है. अपने देश में यह तो संभव ही नहीं कि कोई अनुराग वर्मा किसी अगस्त शुक्ला का बेटा हो. और वह भी अनजाना बेटा, गोद लिया हुआ भी नहीं. अनजाना बेटा! यह क्या चीज़ है ? तुम्हारा कोई बेटा भी है, इसका ज़िक्र तुमने पहले कभी नहीं किया.

अगस्त गंभीर ही रहा. बोला, --पिछली बार जब मैं यहां आया था तो तुम्हें याद होगा कि अनुराग भी अचानक यहां आ गया था. तुम तो किसी की आवाज पर बाहर चले गये और देर से लौटे. तुम्हारे वापस आने के पहले ही अनुराग चला भी गया था. उससे बातचीत के दौरान पता चला कि उसका ननिहाल गिरीडीह में है. तुम्हें तो याद होगा कि हमारे कॉलेज के दिनों में मेरे पिताजी की पोस्टिंग गिरीडीह में थी. फाइनल परीक्षा के पहले की क्रिसमस की छुट्टी में मैं एक सप्ताह के लिए गिरीडीह गया था. घर पहुंचते ही मां ने मुहल्ले की ख़बरों से मुझे अवगत करा दिया. ...मसलन दहेज को लेकर शर्मा जी ने लड़के की सगाई तोड़ दी. ...विंध्याचल बाबू का बेटा बुरी संगत में पड़कर नशा करने लगा है. ...पड़ोसी हेडमास्टर सहाय जी का बेटा बबलू उन्हीं

के स्कूल में शिक्षक बन गया है और उनकी बेटी वसुधा की शादी पक्की हो गयी है. अगले ही महीने शादी है. पांच-छः दिन इसी तरह की बातों और धमा चौकड़ी में किस प्रकार बीत गये, पता ही नहीं चला. जिस रात को मुझे वापस जाना था, उसी सुबह मोहल्ले की पिकनिक मधुपुर गयी थी. दो बसों में भर कर लोग गये थे. मुहल्ला समझ लो खाली-सा हो गया था. मुझे एक मित्र के घर जाना था. मां ने कहा कि पड़ोसन के संग उन्हें सत्संग में जाना है. मैं अगर जल्दी वापस आ गया तो वसुधा से चाभी ले लूं. वह घर में ही रहेगी.

मित्र किसी ज़रूरी काम से बाहर चला गया था, मैसेज छोड़ गया था कि वह रात में स्टेशन पर ही मुझसे मिलेगा. चाय पीकर मैं जल्दी ही वापस हो गया. घर के मुख्य द्वार पर लगा ताला बता रहा था कि मां सत्संग के लिए निकल चुकी हैं. सहाय जी के दरवाज़े पर नज़र डाली तो देखा किवाड़ सटे हैं पर ताला नहीं है. मैंने दरवाजा थपथपाने के लिए हाथ सटाया ही था कि किवाड़ अंदर की ओर खुल गया. मैं कमरे में घुस गया. तभी आवाज़ सुन कर वसुधा भी अंदर के दरवाज़े से कमरे में आ गयी. वह शायद नहाने की तैयारी में थी. सिर्फ एक महीन सी सूती साड़ी उसके शरीर पर बेतरतीबी से लिपटी हुई थी. मुझे अचानक सामने पाकर वसुधा लज्जा से सकुचा गयी. उसे उस रूप में देख कर मैं अनजाने ही उसकी ओर बढ़ गया. उसने भी नज़रें नीचे कर लीं. इसके पहले कि हम समझ पाते कि हम क्या कर रहे हैं, मर्यादा की सारी सीमाएं टूट चुकी थीं, एकदम फिल्मी अंदाज में. जल्दी से चाभी लेकर मैं अपने घर में आ गया. एक साधारण सी घटना समझ कर मैं इस बात को लगभग भूल-सा गया. उसी रात मैं वापस चला आया. अपनी फाइनल परीक्षा होते-होते पिता जी की बदली बिलासपुर हो गयी और उसके बाद मेरा गिरीडीह जाना नहीं हो सका.

पिछले महीने एक थीसिस का परीक्षक बन कर मुझे गिरीडीह जाना पड़ा. सोचा, गिरीडीह आ ही गया हूं तो कुछ पुराने परिचितों से मिलता चलूं. वसुधा का ख्याल भी ज़ेहन में आया. बहुत बदल चुका था गिरीडीह. जिस होटल में ठहरा था उसके पीछे ही स्कूल था. याद आया कि पड़ोसी सहाय जी तो इसी स्कूल में हेडमास्टर थे और बबलू भी यहीं टीचर थे. स्कूल गया तो पता चला कि सहाय जी तो कब के रिटायर हो चुके थे, उनका स्वर्गवास भी हो गया. बबलू जी अभी स्कूल में ही हैं. परिचय दिया तो पहचान गये. कुशल समाचार के आदान-प्रदान के दौरान ही उन्होंने बताया कि वसुधा भी दो दिन हुए गिरीडीह आयी है. रात के खाने का निमंत्रण उन्होंने दिया, घर का रास्ता भी समझा दिया. मैंने निमंत्रण स्वीकार कर लिया.

शाम को जल्दी ही फ्री हो गया और बबलू के घर पहुंच गया. मेरे आने की ख़बर सबको हो चुकी थी. वसुधा को देखा,

वह आज और भी सुंदर लग रही थी. या फिर मेरी नज़रों में ही कुछ था. चाय के बाद वसुधा ने कहा --बहुत दिनों के बाद तुम्हारा गिरीडीह आना हुआ है. छत पर चल कर बदले गिरीडीह का नज़ारा देखते हैं.

छत पर वसुधा और मैं दो ही लोग थे. वसुधा ने धीरे से कहा --अगस्त! तुम्हारी एक अमानत मेरे पास है लेकिन परिस्थितिवश वह मैं तुमको लौटा नहीं सकती. ...उस घटना के कुछ सप्ताह बाद ही मुझे पता चला कि मैं तुम्हारे बच्चे की मां बनने वाली हूं. पहले तो मैं घबड़ा गयी फिर यह सोचकर कि अब कुछ ही दिनों में मेरी शादी हो रही है, सब कुछ एडजस्ट हो जायेगा, मैं स्थिर हो गयी. शादी भी नियत तिथि पर हो गयी और समय पर अनुराग भी पैदा हुआ. वह बिल्कुल तुम पर गया था. कायस्थ के घर गोरा बेटा देख कर लोग इतने खुश हो गये कि उनका ध्यान इस ओर गया ही नहीं. मैंने ही उसका नाम अनुराग रखा. वसुधा और विनय वर्मा के बाकी दो बच्चों के नाम विवेक और विनीत वर्मा हैं. अनुराग अभी बंबई की किसी कंपनी में इंजीनियर है. मैं किसी भी प्रकार यह सूचना तुम तक पहुंचाना चाहती थी कि तुम्हारा एक बेटा मेरे पास है. लेकिन तुम्हारा पता मुझे तो क्या पूरे गिरीडीह में किसी के पास नहीं था. फिर भी मुझे ऐसा लगता था कि कभी न कभी हम ज़रूर मिलेंगे और मैं यह सूचना तुम्हें दे सकूंगी. आज मैं बहुत खुश हूं कि यह समाचार मैं तुमको दे सकी हूं.

मैंने कहा कि यह कितने इत्तफाक की बात है कि बंबई में अनुराग से मेरी भेंट हो चुकी है, लेकिन बाप बेटे के रूप में नहीं. अनुराग मेरे एक करीबी दोस्त के मातहत के रूप में काम कर रहा है.

--जानकर खुशी हुई कि तुम अपने बेटे से मिल चुके हो... मेरा अब तुमसे एक ही आग्रह है कि प्लीज़ अनुराग वर्मा को अनुराग वर्मा ही रहने दो.

सी.एच. -१/७५, केंद्रीय विहार, खारघर, नवी मुंबई-४१० २१०.

संधि

प्रियंका ने बार-बार नज़र दौड़ाकर देखा कि शायद कोई परिचित आदमी दिखाई देगा. किसी भी परिचित आदमी का चेहरा दिखाई नहीं पड़ा. घड़ी की तरफ देखा. सात बजकर पैंतालीस मिनट. बस को अब तक आ जाना था. मगर आयी नहीं थी.

तांबूल खाने के लिए वह पान की दुकान की तरफ बढ़ गयी. इस समय गणेशगुड़ी में जबर्दस्त भीड़ होती है. असम के अलग-अलग हिस्सों से लोग यहां जमा होते हैं. आंखों में ढेर सारे ख्वाब लिये. तोड़ने-बनाने के ख्वाब. कोई पढ़ाई-लिखाई के लिए सीट की खोज करने आता है. कोई नौकरी ढूंढ़ने आता है. कोई मरीज़ का इलाज़ करवाने आता है. कोई आता है विभिन्न कारणों से मंत्री, एम एल ए से मिलने के लिए. रात में आते हैं. दिन में काम करते हैं और शाम होते ही रात्रि बस में यात्रा करने के लिए गणेशगुड़ी पहुंच जाते हैं. तांबूल खाते हुए पास ही उसने एक आदमी को देखा. देखने में बिलकुल बड़े मामा सनातन की तरह था. तांबूल खाते हुए जैसी मुद्रा बड़े मामा बनाते थे, वैसी मुद्रा उस आदमी ने बनाई. उसे भ्रम हुआ कि वह मामा ही थे. एक कदम आगे बढ़ी पुकारने के लिए. मगर अचानक याद आया - पिछले जेठ महीने में ही सनातन मामा गुज़र चुके हैं.

पान चबाते हुए पीक फेंककर उसने फिर घड़ी की तरफ देखा. आठ बज गये. बस को आना था. मगर क्यों नहीं आयी थी ? आज नहीं आयेगी क्या ? नहीं आने का सवाल ही पैदा नहीं होता. क्योंकि टिकट दिया गया है. सीट नंबर हालांकि नहीं दिया गया है. गणेशगुड़ी टिकट काउंटर से टिकट ख़रीदने पर यही दिक्कत होती है. गाड़ी गणेशगुड़ी पहुंचने से थोड़ी देर पहले सीट नंबर दिया जाता है. उसने काउंटर पर जाकर पूछा. बस पलटन बाजार से रवाना हो चुकी थी.. साथ ही उसका सीट नंबर भी बताया गया. वह आश्वस्त हुई.

सीट नंबर जानने के बाद उसके मन में एक ख्याल कौंधा. उसकी बगल वाली सीट पर कौन बैठेगा ? औरत या मर्द ? औरत होगी तो रातभर निश्चिंत होकर सोते हुए सफर काट सकेगी मगर मर्द होगा तब ? रात के सफर में ज्यादातर मर्द शराब पिये रहते हैं. सिगरेट तंबाकू का सेवन तो करते ही हैं. इसके अलावा छेड़ने का एक खास स्वभाव भी होता है. इसीलिए रात भर का सफर काफी तकलीफदेय साबित होता है. कोई शरीफ मर्द बगल में बैठे, ऐसा किस्मत से ही मुमकिन होता है. पता नहीं आज उसकी किस्मत में क्या लिखा है ?

उत्कंठा-विह्वलता से भरपूर सफर करने की उसे आदत हो चुकी है. घने कोहरे के बीच घर-घर की आवाज़ के साथ बस गुज़रती रहती है. बस के साथ यात्रीगण हिलते-डुलते रहते हैं. नींद में एक दूसरे की देह की गर्मी से वे रात गुज़ारते हैं और भोर में अपनी मंजिल पर उतर जाते हैं.

पदुमी गगै

पिछले दो सालों से वह रात्रि बस में सफर करने की आदी हो चुकी है. एम ए की पढ़ाई पूरी करने के बाद दो साल तक का उसका समय काफी सुकून के साथ गुज़रा था. बचपन से ही माता-पिता के स्नेह की छाया में वह पली-बढ़ी. जबसे होश संभाला था, समय पर खाती थी, समय पर स्कूल जाती थी, कॉलेज जाती थी, समय पर घर लौटती थी. मां जो पहनने के लिए कहती थी वही कपड़े पहनती थी, वही जूते-चप्पल पहनती थी. और तो और जिन सहेलियों के साथ बात करने की अनुमति देती थी उनके साथ ही मेल-जोल रखती थी. हर परीक्षा में माता-पिता प्रथम आने पर जोर देते थे, वैसा ही परिणाम वह लाती थी. अपनी सोच जैसी कोई चीज़ नहीं थी. और तो और भरे यौवन में जो विजय मिला था और एक दिन प्रेम का प्रस्ताव दिया था, तब भी उसने यही ज़वाब दिया था कि मां-पिता से अनुमति लेकर ही वह कुछ कह पायेगी. हमेशा उसका गला जैसे किसी चीज़ से बंद रहता था.

एम ए पास करने के बाद तक वह सोचती थी कि कभी प्रेम का प्रस्ताव देकर नाकाम होनेवाला विजय दुबारा उसके पास एक न एक दिन आयेगा. माता-पिता के सामने विवाह का प्रस्ताव रखेगा. हालांकि उसके साथ किसी तरह का संपर्क उसने नहीं रखा था. कई दिनों तक वह शयनकक्ष में पत्रिकाएं पढ़ते हुए, रेडियो सुनते हुए वह उसकी राह देखती रही थी. मन ही मन कल्पना कर रही थी कि गा रही महिलाओं के बीच दूल्हे की पोशाक में विजय उसके आंगन में आकर खड़ा हो जायेगा. जीवनसंगी बनाकर हमेशा के लिए अपने साथ ले जायेगा. प्रेम समुद्र में गोते लगाते हुए अमृत पान करायेगा.

गरीबी के साथ जूझते हुए विजय इंजीनियरिंग पास कर आयल इंडिया की नौकरी करने लगा. अपने सपने के राजकुमार के बारे में उसने किसी से कुछ नहीं बताया था. तीन सालों तक

नौकरी करने के बाद गरीबी को पछाड़कर अपनी पहचान विजय बना चुका था. ज़मीन खरीदी थी. मारुती कार खरीदी थी. वह सोचती थी कि वह उसी के लिए कमरतोड़ मेहनत कर रहा था.

इस बीच उसे देखने के लिए कई लड़के आये. भय, संशय, लज्जाबोध से झिझकती हुई वह मेखला-चादर पहनकर तांबूल-चाय परोसती थी. एक दो सवाल पूछकर वे लौट जाते थे, ज़रूरत से ज्यादा चुप्पी साधने के बाद वे कोई न कोई बहाना सूचित कर देते थे. तब समझने में देर नहीं होती थी कि वे क्या कहना चाहते थे. इतना सब कुछ होने के बाद भी वह कल्पना करती थी कि सारी जड़ता को तोड़कर स्वप्न की कोमल छाया लांघते हुए विजय आयेगा अवश्य. यौवन से चंचल दिल में लहर पैदा करेगा. फागुन के लाल वन की मादकता एक परम रहस्य को ढककर रखेगी. मगर विजय फिर लौटकर नहीं आया. उसने अपनी सहकर्मी मनीषा के साथ रजिस्ट्री विवाह रचा लिया. जिस दिन उसे ख़बर मिली, कल्पना के स्वर्ग से धड़ाम से गिर पड़ी. यथार्थ के जगत में वह लौट आयी. बंद कमरे में रातभर गोद में तकिया रखकर सिसकती रही. उस दिन उसे महसूस हुआ कि मजबूरी के नाम पर इतने दिनों से वह खुद को सताती रही है. उच्च शिक्षा पाने के बावजूद, दोनों बाजुओं में शक्ति संचय करने के बावजूद पिता की इच्छा-अनिच्छा के दायरे में वह घुटती रही है.

उसके मन में एक नये बोध का जन्म हुआ जो एक अदृश्य कीड़ा बनकर लगातार काटता रहा. उसकी जिद बढ़ती गयी. पिता की विचारधारा को कुकुरमुत्ते के छत्ते की तरह अब और सिर पर रखने का जी नहीं चाहा. बंद कमरे का दरवाज़ा खोलकर वह सड़क पर आ गयी, कंधे पर एयर बैग और शैक्षणिक योग्यता का प्रमाणपत्र लेकर. उसे एक नौकरी चाहिए.

एक के बाद दूसरी लिखित परीक्षा देती रही है. मौखिक परीक्षा दी है. मगर सब कुछ पानी का बुलबुला साबित हुआ है. नतीज़ा सिफर. उसे ज्ञान के मापदंड पर भी शक होता है. प्रथम श्रेणी में पास होने का प्रमाणपत्र वह तकलीफ के साथ देखती है. कितनी रातें जाग जागकर पढ़ते हुए कितनी तकलीफ से इन प्रमाणपत्रों को वह पा सकी थी. जबकि इन प्रमाणपत्रों की अहमियत एक राशनकार्ड के बराबर भी नहीं है. उसके दिमाग में कीड़े का दंश तीखा होता जाता है. दिनों-दिन कड़वाहट बढ़ती जा रही है. संदेह बढ़ता जा रहा है. विश्रृंखलता बढ़ती गयी है. उसके दिमाग का कीड़ा और ज्यादा दंशन करता है, जब उसने सुना कि मधुछंदा को राजपत्रित अधिकारी की नौकरी मिल गयी. उस नौकरी के लिए मधुछंदा की योग्यता संदिग्ध थी. फिर भी उसे नौकरी मिली है. सभी लोगों का अलग-अलग विचार है. कोई कहता है रुपये देकर नौकरी मिली है. कोई कहता है शरीर देकर. प्रमाणित कर पाना आसान नहीं है. फिर भी अब वह राजपत्रित अधिकारी है.

पदुमी गगै

१ फरवरी १९५७, डीफू, कार्बी आंगलांग जिला, असम

लेखन : *सत्तर के दशक में लेखन शुरू किया - कविता, कहानी, उपन्यास और निबंध. प्रकाशित कृतियों में "उजागरी पखीर गीत" एक चर्चित कृति मानी जाती है.*

संप्रति : *वित्त सलाहकार, असम सरकार.*

लोग मधु से डरते हैं. वह तीव्र बेचैनी के साथ लगातार भटकती रहती है. एक के बाद एक आशा-भंग की आह दिल के कोने से निकलती रहती है.

हॉर्न बजाती हुई बस आकर काउंटर के सामने खड़ी हो गयी. कंडक्टर 'शिवसागर, शिवसागर' कहकर चिल्लाया. वह झटके के साथ चढ़ गयी. सीट पर बैठने गयी तो बगल वाली सीट पर विजय को बैठे पाया. विजय को देखते ही उसके होंठ शुष्क हो उठे. अंधेरे के साथ विलीन हो गयी उसकी अंतरात्मा की अनुभूतियां. मन कांपने लगा... किसी पीले रंग के सूखे पाना आसान नहीं है. फिर भी अब वह राजपत्रित अधिकारी है. पत्ते की तरह. उसे अचानक देखकर विजय लगभग चीख उठा - "अरे ! प्रिय तुम !"

"हां !" उसने संक्षिप्त उत्तर दिया.

"कहां आयी थी ?" उसने फिर पूछा.

"इंटरव्यू देने." हौले से ज़वाब देकर वह खुद में सिमटकर बैठ गयी.

"आयल इंडिया में जनसंपर्क अधिकारी के दो पद खाली हैं." उसने धीरे से कहा.

उसने कोई ज़वाब नहीं दिया और शॉल से शरीर को ढक लिया. विजय ने कोई भाव दर्शाये बिना एक सिगरेट सुलगा ली. इत्मीनान से कुछ कश लेने के बाद उसने खिड़की से बाहर सिगरेट फेंक दी. उसके बाद उसके कंधे पर दायां हाथ रखकर फुसफुसाया- "सच कह रहा हूं प्रिय, दो पोस्ट हैं. अगर तुम चाहो तो मैं चेयरमन से बात कर सकता हूं." संदिग्ध नज़रों से देखकर उसने सीट

पर शरीर को ढीला छोड़ दिया. व्यंग्य पूर्ण मुस्कान के साथ व्यंग्यात्मक लहज़े में उसने फिर कहा-

"पिता से पूछकर ही ज़वाब दोगी क्या ?"

उसने समूचे शरीर में पूस महीने की सर्दी में भी जेठ महीने की गर्मी का अनुभव किया. विजय के व्यंग्य से उसने खुद को अपमानित महसूस किया. इस बार भी उसने कोई ज़वाब नहीं दिया. कोई ज़वाब न पाकर विजय सीधा होकर बैठ गया निस्तेज भाव के साथ.

रातभर वह एक विमूर्त मूढ़ता में डूबी रही. विजय सो गया. बीच-बीच में ऊंघते हुए वह झुककर उसके सीने से सट जाता था. वह दोनों हाथों से उसका सिर थामकर सीधा कर देती थी. इस पूस महीने की रात में अपने प्रेमी युवक को अपने सीने के करीब पाकर भी उसे कोई सिहरन महसूस नहीं हो रही थी. जबकि कुछ साल पहले तक उसका नाम सुनते ही पूरे शरीर में रोमांच की लहर दौड़ जाती थी. क्यों ? उसने मन ही मन सोचा - कहीं इसकी वज़ह मनीषा तो नहीं है ? मन में मनीषा के प्रति बेवज़ह ईर्ष्या जाग उठी.

बस आकर बोकाछात में रुकी. इस बीच विजय जाग गया था. उसने उसे पुकारा - "प्रिय, एक कप चाय पी लो."

"हां..." इस बार उसने सहज होने की कोशिश की.

हाथ-मुंह धोकर दोनों आमने-सामने बैठ गये. विजय ने रोटी मंगवाई. रोटी आयी. चाय आयी. दोनों खामोशी के साथ चाय पीते रहे. विजय ने पैसे दिये. वह बस में सवार हो गयी. विजय सिगरेट पीकर, पान मुंह में डालकर उसके लिए एक मीठा पान लेकर आया. मीठा पान मुंह में डालकर वह बोली- "भाभी को नहीं देख सकी हूं."

"आना एक दिन."

"आऊंगी."

"आने से पहले एक फोन कर देना."

उसके बाद उसने जेब से एक कार्ड निकालकर उसे दिया, जिस पर उसका नाम, पता, फोन नंबर था. कार्ड बैग में डालकर वह सोने की कोशिश करने लगी.

एक महीने बाद वह विजय के घर की तरफ रवाना हो गयी. पीठ पर चिरपरिचित बैग लेकर. आफिस के समय में ही वह उससे मिली. विजय ने पत्नी मनीषा के साथ परिचय करवाया और उसे मनीषा के पास छोड़कर चला गया. उसे देखकर मनीषा ने मुस्कराकर कहा- "आओ. रास्ते में कोई परेशानी तो नहीं हुई."

उसने सिर हिलाया. शायद विजय ने पहले ही उसके बारे में बता दिया था.

"आने से पहले फोन करने की बात थी न ! क्यों नहीं किया ?" मनीषा ने पूछा.

"यूं ही."

"आज रुकोगी न ?"

"सोचा है लौट जाऊंगी."

"विशेष काम न हो तो रुक जाओ."

"बेरोज़गार का काम है नौकरी खोजना. भाभी."

"रुको. मुझे अच्छा लगेगा."

व्यवहार में विजय की पत्नी मनीषा भली थी. उसने मन ही मन सोचा. क्या मनीषा जानती है कि कभी विजय ने उससे प्रेम-निवेदन किया था ? उसे मन ही मन अच्छा लगा था. किसी भी समय अपने अंतर में छिपी विजय के प्रति दुर्बलता का सैलाब लाकर वह उनकी गृहस्थी उजाड़ सकती थी. देखने में मनीषा उसकी तरह सुंदर भी नहीं थी. परिवार से विरक्त होकर विजय फिर सौंदर्य का उपासक बनकर अगर फिर उसके पीछे-पीछे घूमना शुरू कर दे ? यौवन की अपूर्ण आशा पूरी करने की मांग करे ? नहीं, वह एक ऐसी सहज-सरल लड़की को धोखा नहीं दे सकती. उसने पल भर के लिए सोचा - अगर मनीषा प्रियंका होती और प्रियंका मनीषा होती तो क्या होता ?

मनीषा का प्रस्ताव मानकर वह उनके घर पर ठहर गयी. कंपनी का क्वार्टर था. घर के भीतर सारी सुविधाएं थीं पर ज़गह कम थी. कम ज़गह वाले घर में ही मनीषा ने विलासिता के तमाम सामानों को आकर्षक तरीके से सजाया था. घर में घुसते ही उसे एक सुकून का अहसास हुआ.

अतिथिकक्ष का दरवाज़ा खोलकर मनीषा ने उससे आराम करने के लिए कहा. खुद घरेलू पोशाक पहनकर मुंह-हाथ धोकर रसोई में चली गयी. नौकरानी के साथ पूड़ी-सब्जी बनाने लगी. दिनभर आफिस में काम करके लौटने पर भी जरा भी विश्राम नहीं. रसोई के दरवाज़े के पास खड़ी होकर प्रियंका ने कहा - "भाभी, मेरे लिए इतनी तकलीफ क्यों कर रही हो ?"

"तुम्हारे लिए कहां तकलीफ उठा रही हूं ? दफ़्तर से दादा आयेंगे, अगर उन्हें चाय नहीं मिलेगी तो मानेंगे ? वे नौकरानी के हाथ का बनाया हुआ नहीं खाना चाहते."

वह कुछ नहीं बोली. मनीषा पर उसे तरस आया. उसने गौर से मनीषा को देखा. मांग में सिंदूर की लंबी रेखा. चेहरा खास नहीं. आकर्षण की मात्रा तनिक भी नहीं. विजय ने उससे क्यों विवाह किया होगा ? इस तरह पका पकाया खाने के लिए ही ? दफ़्तर में दिनभर काम करके थककर घर लौटकर देर रात तक खाना पकाना. उसके बाद बिस्तर पर आधी रात तक विजय की वासना की भूख शांत करना. आह - और ज्यादा वह सोच नहीं सकती. विजय बड़ा मतलबी है ! विजय के बारे में ऐसी बात सोचते हुए उसे बुरा भी लगा. उसे न पाकर कहीं मनीषा को इस तरह सता तो नहीं रहा है ? बार-बार खुद को ही केंद्र में रखकर वह सोचती रही.

❑

मनीषा ने विजय और उसे पूड़ी-सब्जी परोसने के बाद चाय बनाना शुरू किया. वह मनीषा के साथ खाना चाहती थी, मगर मनीषा ने मना किया. विजय के साथ ही खाने का अनुरोध किया. उसे भूख भी लगी हुई थी. इसीलिए विजय के सामने बैठकर खाने लगी.

पूड़ी-सब्जी खाते हुए विजय कुछ कहना चाहता था. वह फिर भावुक हो उठी. वह भला क्या कहना चाहता है ? क्या उससे पूछना चाहता है कि क्यों अब तक विवाह नहीं किया ? नहीं. मनीषा के सामने कम से कम वह ऐसी बात नहीं पूछेगा. या मां की मौत के समय ख़बर लेने के लिए न जाने की बात को लेकर माफी मांगना चाहता है ? वह तो उसे माफ कर चुकी है. फिर वह क्या कहना चाहता है ! नौकरी... वह यहां नौकरी के लिए ही आयी है.

"विजय दा."

"कुछ कहोगी ?"

"यानी मैं कहना चाहती थी..."

"क्या ?"

"तुमने उस दिन बताया था न दो पोस्ट के बारे में ?"

"हां, मैं तुम्हें उसी के बारे में बताऊंगा, सोच ही रहा था."

"नौकरी मिलेगी क्या ?"

"देखता हूं, ठहरो. लाइन लगाना पड़ेगा."

"लाइन मतलब ?"

"तुम आज भी भोली ही हो प्रिय !"

"मेरा एक बैलंस कैरियर है."

"है, कोई बात नहीं. नौकरी पाने के लिए लाइन लगाना पड़ेगा."

"लाइन किस तरह लगाऊंगी विजय दा ?"

"तुम अगर चाहो मैं लगा सकता हूं, मगर पूरा एक लग जायेगा."

"एक यानी ?"

"लाख."

"ओह, इतने रुपये ! कहां से लाऊंगी ? रुपये देकर मुझे नौकरी नहीं चाहिए."

"क्यों ? तुम्हारे विवाह के लिए मां के बचाये हुए रुपये नहीं हैं ?" विजय ने कठोर स्वर में कहा.

प्रियंका कुछ नहीं बोली. उसकी नज़रों से नज़रें हटाकर पूड़ी-सब्जी उलटती-पलटती रही. वह आहत हुई. क्षुब्ध भी हुई. इस कदर कड़वी बात सुनाने के लिए क्या विजय ने उसे शिवसागर से दुलियाजान बुलाया था ? चाहता तो उसी दिन रास्ते में कह सकता था. उसने उसकी तरफ देखकर फिर कहा, "तुम चाय-वाय पीकर आराम करो. पूरी रात बाकी है. सोचकर देख लो. जाते समय बता देना. ईमानदारी के नाम पर दिन रात बस-रेल में भटकने से अच्छा है कोई ठिकाना ढूंढ़ लो."

उसे महसूस हुआ कि उसने आवेग के साथ यह बात कही थी. इतना कहकर मुंह से चम्मच निकालकर बेसिन के पास गया, मुंह धोकर चाय का कप लेकर ड्राइंग रूम की तरफ चला गया.

आखरी बात के जरिए विजय क्या समझाना चाहता था, वह समझ नहीं पायी. उसने कनखियों से पूड़ी को टटोलती हुई मनीषा की तरफ देखा. मनीषा रसोई में ही गैस टेबल पर प्लेट रखकर तेजी से खा रही थी. वह जैसे उनकी बातचीत की तरफ ध्यान नहीं दे रही थी. चेहरा धोकर वह धीरे से अपने कमरे की तरफ बढ़ी. जाते हुए उसने सोचा प्रेम विवाह, सच्चाई-झूठ, लाभ-मोह, प्राप्ति-अप्राप्ति यह सब एक-एक परिस्थिति का नाम है. फिर भी हृदय के गुप्त कक्ष में जीवित रहती है प्रथम यौवन की अप्राप्ति की वेदना. विजय के हृदय के गुप्त कोने में शायद रह गया हो अधजले प्रेम शिखा का टिमटिमता उजाला. कौन जानता है !

वित्तीय सलाहकार, असम सरकार,
दिसपुर, गुवाहाटी - ७८१००६ (असम)

लघुकथा

अपाहिज

✍ डॉ. प्रद्युम्न भल्ला

उस दिन रोज़ की तरह बस से उतरा तो नज़र एक बीस-बाइस वर्षीय नौजवान पर पड़ी जो सामने की दुकान पर लगी एक मशीन पर कार्य करने में व्यस्त था. मैं कौतूहलवश उसके नज़दीक चला गया. नज़र उसके पांव पर पड़ी तो मैं कांप कर रह गया. उसके दोनों पांव नदारद थे. मुझे बड़ा दुःख हुआ.

धीरे-धीरे मैं उसकी तरफ बढ़ा. पास जा कर मेरे मन में सहानुभूतिवश उसे कुछ देने का ख्याल आया. उसने एक बार मेरी ओर देखा और फिर काम में व्यस्त हो गया.

सुनो भई... तुम... मेरा मतलब है, तुम्हारे पांव... "जी, मेरे पांव एक दुर्घटना में कट गये थे," कहकर वह फिर काम में व्यस्त हो गया.

"ये लो भई,... अरे रख लो, ले भी लो." मैंने एक पचास का नोट उसकी तरफ बढ़ा दिया. मेरी नज़र अब भी उसके पांव पर थी.

उसने आंखों में विचित्र से भाव लिये मेरी तरफ़ देखा और बोला, "बाबूजी, कुदरत ने तो केवल मेरी टांगें छीनी हैं, लेकिन आप मेरे हाथ भी काट रहे हैं ?"

मुझे लगा मैं अपाहिज हो चला हूं.

५०८/२० अर्बन एस्टेट, कैथल-१३६ ०२७

अनुवादक : **दिनकर कुमार**, उदिता ऑफसेट,
शाहिदा मार्केट, लखटकिया, गुवाहाटी - ७८१००१ (असम)

कहानी

नया चेहरा

(इस कहानी के नाम, पात्र, घटनाएं... कुछ भी काल्पनिक नहीं हैं.)

शेरली मेरा दोस्त है. शेरली मेरा ज़िगरी यार है. शेरली का नाम कुछ अजीब सा लगता है न ? शे ऽ ऽ रली...! जाति या धर्म का कुछ पता नहीं चलता ? पर हम उसे शुरू से इसी नाम से पुकारते हैं.

दरअसल नाम तो उसका शेर अली है परंतु जल्दी-जल्दी बोलने-पुकारने की हबड़-तबड़ में 'अ' का लोप हो जाता है न ? इसीलिए शेरली !

शेरली और मैं बचपन से एक ही स्कूल में साथ-साथ पढ़े. जब से होश संभाला एक ही कॉलोनी में साथ रहे...पले बढ़े. शेरली के वालिद जपला सीमेंट फैक्ट्री में मुलाज़िम थे और मेरे पिता वहीं हार्वे हाईस्कूल में शिक्षक !

हम स्कूल साथ जाते, कक्षा में एक ही बेंच पर साथ बैठते, स्कूल का होमवर्क कभी शेरली के घर होता तो कभी मेरे घर पर ! न तो शेरली के पांचों वक़्त के नमाज़ी अम्मी-अब्बू को मुझसे कोई गुरेज़ था और न ही पूजा-पाठ में ज़रूरत से ज्यादा रुचि लेने वाली मां या पिता को ही शेरली से किसी किस्म का परहेज़ था.

शेरली ने दो बकरियां पाल रखी थीं. स्कूल से लौटने के बाद अक्सर शाम को वह बकरियां चराने कॉलोनी की चहारदीवारी के बाहर वाले खेतों में जाया करता था, साथ-साथ मैं भी ! बकरियां को परती पड़े खेतों या आहर की मेंड़ पर चरने को हांक कर हम कच्ची सड़क की अधटूटी पुलिया पर बैठ कर जासूसी उपन्यास पढ़ा करते थे. सूरज ढल चुकने के बाद, जब पढ़ना मुश्किल हो जाता, हम वापस घर लौटते थे.

दसवें-ग्यारहवें दर्जे से ही हमें जासूसी उपन्यासों की लत लग गयी थी. तब हमारे प्रिय लेखक के उपन्यासों के सुनील और रमाकांत नामक मित्र-पात्रों के चरित्र हमें आदर्श दोस्ती की मिसाल लगते थे. अक्सर हम उन चरित्रों के संवादों की नकल किया करते थे. मसलन, ...माकूल मौका पाते ही उपन्यास के एक पात्र की तरह शेरली आधा जुमला बोलता.

"यारां नाल बहारां..."

"मेले मित्ररां दे." आधा मैं बोल कर जुमला पूरा करता.

शेरली और मेरे बीच कोई पर्दादारी नहीं थी. हमने अपने निक्कर तो नहीं बदले थे पर एक दूसरे को शायद ही कभी नाम लेकर पुकारा हो. अबे शेरली, ... अरे राजू, ... सुनो मियां... देख मुन्ना... साले तू ... बस यूं ही एक दूसरे से संबोधित होते थे हम !

राकेश कुमार सिंह

केले के पत्ते पर ठहरी झिलमिल ओस की बूंद की मानिंद साफ़, चमकता और पारदर्शी था हमारा दोस्ताना !

स्कूल की शिक्षा पूरी कर हमने एक साथ रांची के एक कॉलेज में दाखिला लिया था. तब पहली बार हमारे बीच फासले पैदा हुए थे. हमें कॉलेज के होस्टल में ज़गह मिल गयी थी. पर शेरली ने मुसलमान बहुल इलाके हिंदपीढ़ी के एक लॉज में कमरा लेकर रहना पसंद किया था. यह और बात थी कि हमारे बीच की यह दूरी बस रात भर के लिए ही रहती थी.

कॉलेज में तो हम सारा दिन साथ रहते ही थे. एक ही बेंच पर बैठने वाली हमारी स्कूली आदत भी छूटी नहीं थी. फिर हमारी शामें, अंधेरा घिरने और हमारे जुदा होने तक, अक्सर घोष'दा के 'बांग्ला चा' की दुकान पर ही बीतती थीं, जब तक कि घोष'दा हमें जाने को नहीं कहते,

"कि रे विद्यार्थी लोग..! पढ़ा-लेखा कोरबे ना कि ...? बेशी चा खेयो ना. तीन कोपेर बेशी देबो ना."

यह दुकान होस्टल के मुख्य द्वार के सामने ही सड़क के पार थी. घोष'दा लड़कों का काफी खयाल रखते थे.

हम साथ-साथ ग्रेजुएट हुए. कॉलेज से छूट कर साथ ही बेकारी, खालीपन और निठल्लेपन से जूझे. प्रतियोगिता परीक्षाओं में शामिल हुए. तब हमारी शामें उसी कच्ची सुनसान सड़क की टूटी पुलिया पर मूंगफलियां तोड़ते या भुने चने फांकते बीतती थीं जिस पर हम स्कूली दिनों में बैठा करते थे.

फिर हम दोनों की नौकरियां लगीं. पहले शेरली पटना के सचिवालय में क्लर्क बहाल हुआ. कुछ ही समय बाद मुझे भी आरा शहर के एक कॉलेज में नौकरी मिल गयी थी.

जब मुझे नियुक्ति पत्र मिला था तब शेरली घर आया था. मैं नौकरी ज्वाइन करने आरा आने लगा तो शेरली भी पटना तक मेरे साथ आने को तैयार हो गया था.

पटना में शेरली मुझसे अलग हो गया. मैं दूसरी ट्रेन से आरा निकल पड़ा था, अपने पीछे अपने यार को चिंतित छोड़ कर. उसे फिक्र थी कि मैं एक अजनबी शहर में कैसे सैटल हो पाऊंगा जबकि मैं सोचता था कि छोटे शहर में सैटल होने में कोई मुश्किल नहीं परंतु राजधानी की भागमभाग वाली हृदयहीन भीड़ से कस्बे वाला मेरा सीधा-साधा यार पता नहीं कैसे ताल-मेल बिठा पाता होगा ?

नौकरी पर लगते ही हमारी शादियां भी हो गयीं. मैंने शेरली की शादी पर गला ख़राब होने तक सेहरा गाया. अगले वर्ष शेरली भी मेरी शादी में थक कर चूर होने तक नाचा. हम दोनों खुश थे.

हम दोनों तो लगभग नास्तिक ही थे पर हमारी पत्नियां बेहद धार्मिक निकली थीं. मेरी पत्नी रक्षाबंधन का त्यौहार भी उतनी ही श्रद्धा, निष्ठा और उत्साह से मनाती थी जितनी की शेरली की बीवी पांचों वक़्त की नमाज़ और ईद !

वक़्त गुजरता रहा. हमारे पिता कारखाने और स्कूल की नौकरियों से सेवानिवृत हो कर उस पुराने कस्बे को छोड़ कर अपने-अपने पैत्रक गावों में स्थानांतरित हो गये. कस्बा छूटा तो मौके-गर-मौके तीज-त्यौहारों या लंबी छुट्टियों में शेरली से मिलने-गपियाने के मौके अमावस का चांद हो गये. अपनी-अपनी घरेलू समस्याएं, बच्चे, बच्चों के स्कूल, राशन-रसोई, बीमों की किश्तें और तरक्की की सीढ़ियां...रोज़मर्रा के अनेकों झंझट... दिन-महीने-वर्ष... शेरली से मिले सात-आठ वर्ष हो गये !

आखरी बार जब हम मिले थे तो वह दिसंबर की सर्द-गुलाबी शाम थी. सुबह मैं सपरिवार, कस्बा छोड़ने वाला था. पिता रिटायर हो चुके थे.

उस शाम रात गिरने तक हम पुलिया पर बैठे बातें करते रहे थे. अपने-अपने भविष्य के बारे में, जीवन की भावी योजनाओं के बारे में, आरा-पटना की दिक्कतों के बारे में... फिर कब, कहां और कैसे मिलने के बारे में. हम वहीं बैठे रहे थे, अंधेरा घिरने, चांद के उगने और फिर चांद के पिघल-पिघल कर चांदनी की शक्ल में टपकने तक...!

फिर हम चंचल चटर्जी के पोल्ट्री-फार्म में अंडे चुराने गये गये थे. शेरली पता नहीं कैसे कच्चे अंडे फोड़ कर पी लेता था जबकि मुझे कच्चे तोड़े अंडों से लोहराइन-फोकराइन बास आती थी !

रात जब हम शेरली के घर लौटे तो पता चला अयोध्या वाली बाबरी मस्जिद ध्वस्त कर दी गयी थी. टेलिविजन पर हमने ढहे मलबे, उन्माद में चीखते सेनानायकों और विक्षिप्त सेना के रोंगटे खड़े कर देने वाले दृश्य देखे.

"एक एतिहासिक स्मारक नष्ट...!" मैंने कहा था.

राकेश कुमार सिंह

२० फरवरी १९६०,

स्नातकोत्तर रसायनविज्ञान एवं विधि स्नातक

लेखन : *वर्ष १९९५ से साहित्य में उपस्थिति ! कहानियों के अतिरिक्त कविताएं, आलेख, टिप्पणियां एवं समीक्षाएं भी प्रकाशित. विभिन्न भारतीय भाषाओं में कहानियां अनूदित एवं प्रतिनिधि संकलनों हेतु चयनित.*

प्रकाशन : *'हांका' (कथा-संग्रह), 'जहां खिले हैं रक्तपलाश' (उपन्यास/प्रेस में), 'रैन भई चहुं देश' एवं 'ओह पलामू'! (कथा-संग्रह प्रकाश्य), केशरीगढ़ की काली रात' तथा 'वैरागी वन के प्रेत' (किशोर उपन्यास).*

विशेष : *"कथाक्रम कहानी प्रतियोगिता-२००१" में प्रथम पुरस्कार; "हांका" हेतु सागर (मध्यप्रदेश) का "दिव्य रजत" अलंकरण; राष्ट्रीय शैक्षिक चैनल "ज्ञानदर्शन" तथा आकाशवाणी से कहानियों का प्रसारण तथा "जहां खिले हैं रक्तपलाश" पर निर्माणाधीन फीचर फिल्म "दस्ता" हेतु पटकथा एवं संवाद लेखन.*

संप्रति : *हरप्रसाद दास जैन महाविद्यालय (आरा) में कार्यरत.*

"एतिहासिक स्मारक या एतिहासिक बखेड़ा... ?" शेरली तिक्त स्वर में बोला था - "वोट का मोहरा. देख लेना...अब ढहाने वाले नारे लगायेंगे कि मंदिर वहीं बनेगा और ज़वाब होगा यहां मस्जिद दोबारा खड़ी करो. दोनों मिलकर कभी नहीं कहेंगे कि झगड़ा ख़त्म करो. झगड़ालू ज़गह पर भगवान या खुदा नहीं टिकता. सो वहां बच्चों के लिए स्कूल, बूढ़ों के लिए कोई पार्क, कोई अस्पताल या संग्रहालय ही बनवा दो."

मैं शेरली के तमतमाये चेहरे को ताकता रहा था. आज लगता है कि गुंबद को ढहाने वाली चोटें कितनी मारक और ख़तरनाक थीं जिसने सिर्फ ईंट-गारे ही नहीं तोड़े...कई दूसरी चीज़ें भी उस रोज टूटी थीं. पर हमारी दोस्ती की बुनियाद तो ईंट-गारे की कतई नहीं थी.

❐

आज जब दरवाज़े पर दस्तक हुई और मैंने दरवाज़ा खोला तो शेरवानी, चौड़े पांयचों वाले पायजामे और टोपी पहने सशरीर शेरली को देख सुखद आश्चर्य से तर-ब-तर हो गया मैं.

शेरली... ! मेरा यार ! मेरे घर पर... ! मेरे दर पर ! बेसाख्ता मुंह से निकला,

"यारां नाल बहारां...!"

"पहचाना मुझे ?" शेरली शायद "मेले मित्रां दे" वाली पंचलाइन भूल चुका था. आखिर एक छोटे से आधे-अधूरे जुमले को भूलने के लिए सात, आठ या शायद नौ साल का वक़्फा नाकाफी तो नहीं होता

"वक़्त के साथ चेहरे क्या इतने बदल जाते हैं कि मैं तुझे पहचानूं ही नहीं... स्साले !" - मैंने उसकी शेरवानी का कॉलर पकड़ कर उसे घर के भीतर खींचा - "चल पुत्तर... भीतर आजा."

"एक ज़रूरी काम से आरा आया था"- उसने कहा था - "सारी ट्रेन डिस्टर्ब हैं. पटना के लिए पहली गाड़ी अब शाम को ही मिल सकेगी...सो तेरा घर ढूंढ़ता यहां..."

"अबे उल्लू की दुम फाख्ता" - मैंने उसे टोका - "तुझसे आने की या अब तक न आने की सफाई कौन मांग रहा है ? यार आ गया... बस, बहार आ गयी. क्यों आया... कैसे आया ये बातें बेमानी हैं यार !"

मैंने उसे सोफे पर धकेल दिया. खिड़कियां खोल कर पर्दे हटा दिये ! घर में शांति सूंघता शेरली बोला, "घर में अकेले ही हो शायद !"

" हां...फिलहाल. तेरी भाभीजान बच्चों के साथ दशहरे-छठ पूजा में गांव गयी हैं." - मैंने बताया था -"आज-कल में ही लौटेंगी. ...और सुना, कैसा है तू ? कुछ दुबला-दुबला दिखने लगा है और...उम्रदराज़ भी."

शेरली हौले से मुस्कराया था. हंसने में हमेशा से कंजूस रहा है मेरा यार. बोला, "जैसे तुम जवान हो रहे हो...क्यों ? गंजे होने लगे हो मियां, और कुछ भद्दे भी." उसका इशारा मेरी हल्की तोंद की ओर था.

"छोड़ भी... बोल क्या खायेगा ? क्या पियेगा ? चाय काफी, शर्बत, शिकंजी या मेरा खूने ज़िगर ?"

" हा...हा...हा !" - वह हंसा. ठठ कर हंसा -" अभी तक तेरा खिलंदड़ापन और शायराना मिज़ाज गया नहीं ! बदला नहीं तू ?"

"अबे, मैं क्या बिस्तर की चादर या कुशन-कवर हूं जो बदल जाऊंगा ?" - मैंने कहा था - "देख मुन्ने, तेरी भाभी है नहीं. होटल में खाता हूं. फिर भी तेरे लिए करता हूं कुछ...पता नहीं तू कब का भूखा होगा."

शेरली के "ना-ना" करने के बावजूद, छठ पर्व के प्रसादस्वरूप पास-पड़ोस से आये ठेकुएं-अगरौटे-कवचनियां (आटे के पकवान) और चंद फलों के टुकड़े प्लेट में सजा कर मैंने अपने सामने पड़ी सेंटर टेबिल पर रख दिये.

"चल, बिसमिल्लाह कर ! घर में यही कुछ है मियां, छठ का प्रसाद...पा ले! "

"नहीं यार...कुछ खा नहीं सकूंगा...?"

शेरली ने प्रसाद की ओर हाथ भी नहीं बढ़ाया. पंजीरी, आटे और सिंदूर से लिथड़े प्रसाद को देख शायद उसे अरुचि हो रही थी. बाज लोग तो घिनाते भी हैं पर धर्म के भय से कह नहीं पाते. लेकिन मैंने पूछा, "क्यों...?"

"दरअसल आज सुबह से ही पेचिश से परेशान हूं. काम इंतहाई ज़रूरी न होता तो मैं ऐसी तबियत ले कर घर से निकलता ही नहीं."

ओह...! तो शेरली के न खाने की वज़ह, सिंदूर में लिथड़े व्यंजन कतई नहीं थे. वह तो दूसरी ही सांसत में पड़ा था.

"तो भई, कुछ फल-वल ही ले ! कुछ तो -" मैंने इसरार किया !

"ना..."- शेरली ने इनकार किया - आज तो एकदम फाका करूंगा ! वो... क्या कहते हैं तुम्हारे मज़हब में कंपलीट फास्टिंग को ? - निठह उपवास...? या निर्जल... उपवास ?"

वह हंस पड़ा. मैं भी ! फिर मैं उठ,

"अब मैं चाय बनाने जा रहा हूं. पीनी पड़ेगी. निठाह...निर्जल किया तो साले पटक कर तेरे कंठ में जलती चाय उंड़ेल दूंगा..."

"अच्छा...ठीक है यार...ले आ तू चाय." वह खिलखिलाया. कमरे में खुशबुएं बिखर गयीं.

मैंने जैसे-तैसे चाय बनायी. पत्ती कुछ ज्यादा ही पड़ गयी, फिर भी काली चाय बन ही गयी.

फिजा में चाय की लहराती भाप और चुस्कियों के बीच हम बातें करने लगे. गुज़रे ज़माने को याद करने लगे.

स्कूल की बातें, कॉलोनी की यादें, कॉलेज के दिन...! टूटी पुलिया पर गुज़री शामें. चटर्जी'दा के फार्म से अंडे चुराने के किस्से. बचपन की परछाइयां...मरे हुए क्षणों की स्मृतियां मुखर होती रहीं.

बीवी की फरमाइशें... बच्चों के भविष्य... रोज़मर्रा की किलकिल और नौकरी के लफड़ों से गुज़रता बातों का दरिया चुनाव और राजनीति की ओर मुड़ गया. विषय बदलते रहे... वक़्त गुज़रता रहा... न पेट भरा... न मन ही अघाया !

जब शेरली ने जाना कि मैंने कहानियां लिखना शुरू कर दिया है तो उसने प्रगतिशील साहित्य का ज़िक्र करते हुए, हिंदू-मुस्लिम एकता और गैरसांप्रदायिकता की बातें करते हुए कई कहानियों के नाम गिना डाले. भीष्म साहनी की किताब "तमस"

और राही मासूम रज़ा के उपन्यास "आधा गांव" के कई संवाद "कोट" किये.

हमारे अलग होने के बाद के गुज़रे कई सालों तक तो मैं बस रसायन विज्ञान ही पढ़ता-पढ़ाता रहा था. कभी कभार पत्रिकाएं या कहानियां पढ़ता था...खाली समय में. बाकायदा लिखने-पढ़ने का सिलसिला तो इधर चार-पांच सालों से ही, पर शेरली ने तो न जाने कितना कुछ पढ़ डाला था. तभी तो वह काफी होशियारी भरी बातें करने लगा था.

बच्चों पर बात निकली तो उसने बताया कि उसने तो अपनी आठ वर्षीया बेटी राज़िया के निकाह की योजना भी बना डाली थी. इस जमाने में इतनी कम उम्र में शादी की बात सोची भी कैसे उसने ? शेरली का बेटा इमरान मदरसे से तालीम पा रहा था. अब वह बेटे को सुदूर "स्टेट्स" भेजने की सोच रहा है. आलिम-फाजिल बनाना चाहता है बेटे को. शेरली के अनुसार आदमी को अपने धर्म और संस्कृति की जड़ों से उखड़ना नहीं चाहिए!

मैंने उसे टोका था, "क्या दाकियानूसी बातें करते हो मियां ? दुनियां कहां से कहां पहुंच चुकी है. डायनासोर के डी.एन.ए. से बृहस्पति की धुंध तक...और तू है कि इक्कीसवीं सदी में भी बाल-विवाह और उसी पुराने मदरसे से चिपका है..."

"मुझे... पता है... ?" - शेरली संजीदा हो गया था. जब महमूद गज़नवी सोमनाथ के मंदिर पर चढ़ा आ रहा था तो एक पंडित ने उसे चुनौती दी थी कि, 'तुम मंदिर नहीं लूट सकोगे. सर्वशक्तिमान ईश्वर तुम्हें रोक लेगा. हम तुम्हें रोक लेंगे.' जानते हो तब महमूद ने क्या कहा... ? उसने कहा था- 'तुम हमें क्या रोकोगे ? तुम, काफिर लोग बरहमन हो, राजपूत हो, बनिए हो ... अछूत हो और हम... हम सिर्फ मुसलमान हैं... हमें कोई नहीं रोक सकता.' फिर सोमनाथ के मंदिर का जो हश्र हुआ वह सारी दुनियां जानती है. 'सामर्थ्य और सीमा'... भगवतीचरण वर्मा... रिमेंबर... ? "

मुझे मानना पड़ा, वाकई शेरली की अक्ल में इंकलाबी इज़ाफा हुआ था. किसी को कायल कर लेने की हद तक समझदार और तार्किक हो गया था मेरा यार. काफी ज़हीन ! बेहद दाना !!

मैंने शेरली को एक नयी निग़ाह से देखा. छोटे से कस्बे की छोटी सी कॉलोनी में रहने वाला मेरा दोस्त शेरली इतना होशियार तो कभी नहीं था. गुज़रे कुछ सालों की शहरी ज़िंदगी ने उसे कितना दुनियादार बना दिया था ?

मेरे साथ मुर्गी के अंडे चुराने वाला शेरली, पूरे सावन झींसी-झड़ी से भींगती सिहरती भोर में दूसरों की फुलवारियों से मेरी मां के लिए पूजा के फूल-बेलपत्र चुराने वाला शेरली, ...कितनी ज़हीन और उम्दा बातें करने लगा था ? मंत्रमुग्ध मैं उसकी बातें सुनता रहा था. कई-कई बातें तो उसने ऐसी कहीं जो ऐसे मौकों पर मैं अपनी कहानियों के पात्रों से बुलवाना चाहता था.

...पर क्या वाहियात विषय छेड़ बैठे थे हम ? वह भी ऐसे खुशनुमा मौके पर ?

बोलते-बोलते शेरली का चेहरा तमतमा उठा था. ज्यादा विलोने से लस्सी पतली हो कर बिगड़ जाने का ख़तरा होता है. मैंने संदर्भ बदलने की नीयत से उसे टोका,

"अच्छा... भई... तू जीता ! अब ज्यादा पीर-फकीर मत बन ! तू तो एकदम किसी इमाम-मौलाना की तरह तकरीर झाड़ना सीख गया है पर मेरे बच्चे, ... जब हमने हिंदू-मुस्लिम सौहार्द की कोई कहानी नहीं पढ़ी थी तब भी हमारी दोस्ती किसी हितोपदेश या पैरेबल्स की मुहताज़ नहीं थी. अब भी नहीं है....तू बोल, है क्या ?"

उत्तर में शेरली ने अपनी कलाई घड़ी पर ताका.

"या अल्लाह... ! साढ़े छः !! पता ही नहीं चला वक़्त कैसे गुज़र गया. भई, अब मैं तो निकलूंगा...मेरी ट्रेन का वक़्त शायद हो चुका."

"यह तो कोई बात नहीं हुई" - मैंने इसरार किया- "आज रात रुक ही जाते. ढेर सारी बातें करते हम ! तुमने तो न कुछ खाया...न पिया बस आये और चल दिये."

"क्यों...? चाय नहीं पी...?" शेरली मुस्कराया था.

"फिर भी... !" मैं झेंप गया ! संकोच से मुस्करा भी न सका था.

अमां छोड़ो भी ये फॉर्मेलिटीज. जौक साहब ने भी तकल्लुफ को सरासर तकलीफ ही फरमाया है.

"पर... शेरली."

"तुम तो बस... ! अगली बार के लिए भी कुछ रहने देगा कि नहीं ? सो माई सन, बेटर लक नेक्स्ट टाइम... ओ. के. ?"

मैंने मौन सहमति दी. उसे रिक्शे पर बिठा कर, जल्द ही फिर आरा आने का वायदा ले कर, टेलिफोन नंबरों का आदान-प्रदान करने के बाद विदा में हाथ हिला कर मैंने शेरली को स्टेशन के लिए रवाना किया.

शेरली विदा हो गया. दिन भर गप्पें मारने के बाद अचानक शांत हो गये घर का अकेलापन कुछ ज्यादा ही गाढ़ा लगने लगा. शेरली तो जैसे आंधी की तरह आया और ढेर सारी यादों को ख़तों के पुलंदे सा बिखराता तूफान की भांति गुज़र गया. अपने पीछे मुझे कुछ उसी तरह स्टेशन पर छोड़ कर, जैसे कभी मैं उसे पटना स्टेशन पर छोड़ कर आया था. मन उदास-उदास लगने लगा था...या शायद मैं ज़रूरत से कुछ ज्यादा ही 'नास्टेल्जिक' हो रहा था. मुझे अपना ही घर काटने लगा.

अब तक मैं कई कहानियां लिख चुका था पर पहली बार मैंने एक कहानी लखनऊ की एक कथा प्रतियोगिता में भेजी थी. कहानी ने प्रथम पुरस्कार पाया था इसकी सूचना मुझे डाक से मिल चुकी थी. यह प्रतियोगिता एक कथा-पत्रिका ने आयोजित की थी जिसका नया अंक इसी हफ्ते अपेक्षित था. शायद नया

लघुकथा

हिंदू-मुस्लिम

✍ महावीर रवांल्टा

स्याह रात्रि में लंबे रूट पर दौड़ती बस अचानक रुकी तो उसमें सवार लोगों को इसके रुकने का कारण समझ नहीं आया. ..."सब लोग चुपचाप अपनी अपनी ज़गह बैठे रहो." बस में सवार हथियारबंद लोगों में से एक गुर्राया तब पता चला कि वे मुसीबत में हैं.

लुटेरों ने पूरी बस में छितरकर सभी को भयाक्रांत कर दिया. "निकालो जिसके पास जो है," वे दहाड़े और लोग अपनी नगदी, जेवरात, घड़ियां व कीमती सामान उन्हें देने लगे.

तभी लुटेरों में से एक की निगाह पीछे की पंक्ति की खिड़कीवाली सीट पर बैठी युवती पर गयी. "चल निकाल !" तमंचे की नाल उसकी ओर करते ही युवती ने अपना पर्स व अंगूठी उसे थमा दी.

"माल तो अच्छा है," युवती का असीम सौंदर्य देख दूसरे लुटेरे की नीयत खोटी होने लगी. "चलो आज इसी को चख लें, क्यों दद्दा ले चलें ?" उसने पूछा और मौन स्वीकृति मिलते ही उसे घसीटने लगा.

युवती चीखी-चिल्लायी. सभी ने उसकी ओर देखा पर लाचार थे. हथियार ताने लुटेरे इधर-उधर खड़े थे. एक लुटेरा युवती के पिता के पास खड़ा था. "खबरदार ! कोई अपनी ज़गह से हिलना नहीं, और बुड्ढे तू भी नहीं, कल सवेरे तेरी बेटी तेरे को यहीं मिल जायेगी. पुलिस के चक्कर में मत पड़ना वरना..." उनकी चेतावनी थी. युवती को घसीटा जा रहा था. वह रो-चिल्ला रही थी. "अरे कोई तो बचा लो मेरी बेटी को." बुजुर्ग पिता ने साहस समेटकर बेटी की अस्मत बचाने की गुहार की थी पर जान जाने के भय से सभी जैसे काठ हो गये थे. किसी का साहस नहीं हुआ.

"अकेली लड़की को घसीट रहे हो, यह तुम्हारी कौन सी मर्दानगी है भाई ?" कंडक्टर की सीट के बराबर में बैठा एक युवक बोला तो सभी भयाक्रांत चेहरे उसकी ओर उठे.

'शायद इसे अपने जीवन का मोह नहीं,' सभी का सोचना एक ही था.

"चुप बे स्साले. ये तेरी बैन लगती है जो..."

"ऐसा ही समझ," और वह निहत्था ही उनसे भिड़ गया. गुत्थमगुत्था हुई. एक लुटेरे ने युवक के पेट में चाकू से प्रहार किया. खून बहने लगा. युवक का साहस देख बाकी लोग भी तैश में आ गये. शोर-शराबा हुआ.

"भागो !" पीछे से किसी जीप की हेड लाईट पड़ती देख लुटेरों में से एक चिल्लाया और वे एक-एक कर नीचे कूद गये.

घायल युवक को अस्पताल पहुंचाया गया, जहां पता चला कि देवकी नाम की हिंदू युवती की अस्मत बचाने वाले उस युवक का नाम असलम था और इत्तफाक से वे दोनों एक ही शहर के रहने वाले थे.

प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र,
धरपा, बुलंदशहर २०३ १३१ (उ. प्र.)

अंक आ ही गया हो. इसी बहाने मैंने स्टेशन पर स्थित बुकस्टाल का एक चक्कर लगाने का फैसला किया. शायद इससे मेरा अकेलापन कुछ कम हो सके. वैसे भी खूबसूरत शामें अकेले कमरे में बिताने से मुझे दहशत सी होती है.

गुज़रते अक्तूबर की सिहरती सर्द शाम थी. हल्के कोहरे में स्ट्रीट-लाइट की बत्तियां भुकभुकाने लगी थी. मैं टहलता हुआ स्टेशन के प्रवेश द्वार तक आ पहुंचा.

अभी प्रवेश द्वार से कुछ कदम दूर ही था कि मेरे कदम ठिठक गये ! अचानक सामने गढ़ा देख कर अड़ने वाले घोड़े की तरह...!

शेरली, मेरा दोस्त... मेरा यार... एक चाय समोसे की दुकान के बाहर खड़ा था. हाथ में समोसे की प्लेट थामे. गर्मा-गर्म लहरते समोसे के टुकड़े जबड़ों में कुचलते-पलटते शेरली को देख मैं... पर उसने तो कहा था पेचिश है... उपवास पर हूं. मेरे यहां कुछ खाते न बना...कहता था मुफीद नहीं रहेंगे... पेचिश बिगड़ने का अंदेशा था उसे और यहां होटल के घटिया समोसे...? ठहर साले, अभी झाड़ता हूं तेरी पेचिश...!

...पर मैं अपने सोच को कार्यरूप में परिणत न कर सका. समोसे खाते शेरली की कही कई बातें याद आने लगीं. उसकी गंभीर आवाज़... उसकी संज़ीदा बातें... धर्म, संस्कृति, जड़ें, काफिर... बरहमन... राजपूत... मुसलमान... ढेर सारे शब्द गड्मड् हो कर चेतना में टकराने लगे.

ओह...! मुझे मेरे यार शेरली के चेहरे पर लहराती लंबी सफेद दाढ़ी क्यों उगती दिखने लगी ? उसके सिर पर घने घुंघराले बालों की ज़गह सफेद जालीदार टोपी... हाथ में प्लेट की बजाय तस्बीह... या कोहरे के पार कोई भ्रम... !

ना... कतई नहीं... ! वह मेरा यार शेरली नहीं हो सकता. समोसे निगलता वह शख़्स कोई और है जिससे मेरा कोई वास्ता नहीं. किसी गैर को बेवज़ह क्यों टोकना... ज़रूर मेरी आंखों को धोखा हो रहा है. मेरा दोस्त तो कब का पटना को रवाना हो चुका. यह शख़्स तो कोई फकीर है... कोई मुल्ला-मौलवी... मेरे लिए कतई अजनबी... कोई नया चेहरा...!

जयप्रकाश नगर (कतीरा)
भोजपुर, आरा - ८०२ ३०१ (बिहार)

आमने / सामने

लो, आज गुल्लक तोड़ता हूं !

✍ राकेश कुमार सिंह

(बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठें खोलना चाहता है. लेखक और पाठक के बीच की दीवार ख़त्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, 'आमने/सामने.' अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, प्रो. कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, सुनील कौशिश, डॉ. बटरोही, राजेश जैन, डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, विकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुन्नीसिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ. हरिमोहन, डॉ. दामोदर खड़से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ. अरविंद, सुमन सरीन, फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक 'अंजुम', राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, कृष्णा अग्निहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, सुधा अरोड़ा, पं. किरण मिश्र और डॉ. देवेंद्र सिंह से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है राकेश कुमार सिंह की आत्मरचना.)

आज जब साहित्य की छीजती पाठकीयता को लेकर साहित्य की राजधानियों में साहित्य के 'बड़े' हताशा में हैं, यह बात मुझ गंवई किस्सा-गो को बेहद आश्वस्ति देती है कि साहित्यकार या साहित्यालोचक मुझे पढ़ें न पढ़ें, मेरे पास कुछ ऐसे पाठक हैं जो मुझे नियमित पढ़ते हैं, मुझे पत्र लिखते हैं, मेरी हौसला अफजाई करते हैं, अपनी शिकायतें दर्ज करते हैं और...मेरे जीवन व लेखन के बारे में मुझसे प्रश्न करते हैं. हर पाठक को व्यक्तिगत रूप से लंबे पत्र लिखने का समय प्रायः किसी व्यस्त लेखक के पास चाह कर भी नहीं होता. लिहाज़ा आज जब मुझे अपने पाठकों से आमने-सामने होने का अवसर मिला है तो आज गुल्लक तोड़ता हूं.

धनपत बाबा

मेरे पाठकों को यदि मुझसे यह उम्मीद हो कि इस रचना में मैं उन्हें अपने लेखन के बारे में कोई फैंसी बात या गोपन रहस्य बताने वाला हूं तो मैं उन्हें निराश करने वाला हूं क्योंकि आज तक जो कुछ भी मेरे नाम से छपता रहा है वह सारा किया-धरा किसी और का है. ईमानदार बात यही है कि जब मैं एक शुद्ध पाठक की भांति अपनी ही चीज़ें पढ़ता हूं तो मुझे ख़ुद यह विश्वास नहीं होता कि यह मैंने ही लिखा है.

बेशक मेरा लिखा श्रेष्ठ नहीं है. मुझमें न कुछ विशिष्ठ रचने का माद्दा है, न ही साहित्य में कोई मील का पत्थर गाड़ने की कूवत, पर जो भी है, जैसा भी है, यह भी मेरे सामर्थ्य से बाहर की चीज़ है. मैं न तो इतना काबिल था कि शुद्ध हिंदी भी लिख पाता, न ही इतना दाना कि छपने योग्य रच पाता. जीवन के पैंतीसवें वर्ष में लिखना शुरू किया तो लगा काफी समय व्यर्थ गंवा चुका हूं. फिर भी लगभग पचास कहानियां, एक उपन्यास, आलेख, समीक्षाएं, दो किशोर उपन्यास और एक सृजनाधीन उपन्यास... यह सब कैसे हो सका ? उत्तर विचित्र किंतु सत्य है.

मुझे भी एक आम आदमी की तरह शिकायतें हैं. क्रोध है. प्रेम है. असंतुष्टि है. ...घर से, समाज से, पत्नी से, व्यवस्था से, या ईश्वर से (यदि व है). मैं न तो अपनी व्यथा ढंग से सार्वजनिक रूप में कहना चाहता हूं न ही अपने मनोभावों को सलीके से व्यक्त कर पाता हूं. मेरी यह कमजोर विकलांगता मुझे जिस दूसरी ज़मीन पर मजबूती देती है, वह साहित्य ही है. मैं ऐसे पात्र को अपने मानस में खड़ा करने लगता हूं जो मेरे शब्दों और अनुभवों को अभिव्यक्त कर सके. मैं मन ही मन वे स्थितियां सिरजने लगता हूं जो मेरे हिसाब से होनी चाहिए थीं, पर हो न सकीं. मेरे पात्र वह सब करने लगते हैं जो मैं करना चाहता था पर कर न सका. मेरे चरित्र वही बोलते लगते हैं जो किन्हीं मौकों पर मैं कहना चाहता था पर कह न सका. मजबूरी, साहस की कमी, हीनभावना, असमर्थता, वर्जनाएं, सामाजिक-पारिवारिक दबाव... कारण कई हो सकते हैं.

तब मैं लगभग "ट्रांस" या सम्मोहन की स्थिति में होता हूं जब मेरा "काउंटर इगो" या मेरे भीतर का अतृप्त "मैं" मुझी से अपना मनचाहा लिखवाता जाता है. मेरे "मैं" का नयी-नयी भूमिकाओं में इसी तईं कायांतरण होता रहा है. शायद इसी कारण मुझे अपने तमाम पात्रों के चेहरे-मोहरे, रंगत-सलवटें, आदतें-स्वभाव, कर्म-व्यवहार और नाम-पतों की बारीकियां तक याद हैं.

अग्रज साहित्यकारों की रचना-प्रक्रियाओं को पढ़ते हुए मैंने पाया कि कई रचनाकार ऐसे हैं जिन्हें कथा-बीज अपने पुरखों से मिले परंतु मुझे न तो नानी की कहनियों का स्वाद मिला है न ही मेरी आजीवन दमाग्रस्त आजी (दादी) को ही खांसने से फुर्सत होती थी (और यह फुर्सत उन्हें मृत्यु के बाद ही मिल

सकी). कतिपय साहित्यकारों का बचपन दुःख, तकलीफ, पीड़ा और अभावों में बीता और जवानी गर्दिश में जिसे अभिव्यक्त करने हेतु उन्होंने मसि-कागद का सहारा लिया. मेरे पास ऐसी भी कोई पूंजी नहीं जिसे अब महिमामंडित कर मैं यह सत्यापित कर सकूं कि सचमुच वियोगी ही कवि हो सकते हैं. कहानियां सुनना तो दूर चालीस प्राणियों के मेरे संयुक्त परिवार में दादा, चाचा, ताऊ से तो हम यूं कतराये फिरते थे मानो वे कोई लाल-तप्त लौहस्तंभ थे जिनके छूते ही हमें जल जाना था.

और तो और... कई साहित्यकारों की पत्नियां ही उनके लेखन की प्रेरणा और उत्प्रेरक बनी हैं पर यहां भी मैं अपनी खोटी किस्मत के हाथों छला गया. आज तक मेरी पत्नी ने मेरी लिखी इकलौती पंक्ति नहीं पढ़ी हालांकि पढ़ने के मामले में मेरी पत्नी शुरू से मरभुख्खी रही है. रात-रात भर जाग कर किताबें ख़त्म कर चुकी है. जब ब्याह कर आयी थी तो उसके बक्सों में साड़ियों से ज्यादा वज़न किताबों का था. शिवानी, चतुरसेन, अमृतलाल नागर, बच्चन वगैरह पढ़ती पत्नी की साहित्यिक अभिरुचि मेरे लिए विस्मय की चीज़ थी. और उसका प्रेमी और अब पति साहित्य से विरक्त, नीरस रसायनशास्त्री भर था.

हालांकि बाद में उसने मुझे कई कहानियों के प्लॉट दिये. "कोमल गंधार", "कंदील", "त्रिपुर सुंदरी"... आदि कहानियां दरअसल मेरी पत्नी अनीता की ही हैं जिन्हें मैंने लिखा भर है. यदि अनीता लिखती तो शायद मुझसे बेहतर लिख जाती पर वह पाठक बन कर ही संतुष्ट है. यह और बात है कि मेरे लेखन की शुरूआत में वह अविश्वास ही करती रही कि कोई कहानी भी लिखी है मैंने. बल्कि जब मेरी पहली कहानी "नाम : अज्ञात" (हंस /दिसंबर १९९५) छपी तो बगैर चित्र-परिचय के छपी और अनीता ने कहा कि मैं रौब गालिब करने के लिए किसी अन्य हमनाम की रचना को अपनी बता रहा हूं. वह तो भला हो "हंस" का कि तीन-चार कहानियां अन्यत्र छपने के बाद सपरिचय पुनः इसमें मेरी कहानी "मर्सी किलिंग" (दिसंबर १९९६) छपी और मैं घर में लेखक मान लिया गया. अब पत्नी के ताने मिलते हैं कि मैं कोचिंग, ट्यूशन जैसी अर्थोपार्जक प्रवृतियों से विमुख, आर्थिक प्रगति से उदासीन बस पारिश्रमिकहीन पत्रिकाओं में छपने को आतुर रहता हूं.

... तो जब कोई मजबूत साहित्यिक ज़मीन नहीं, कोई उर्वरा परिस्थिति नहीं तो कथा-लेखन के बीज मेरे भीतर कहां से पड़े ? कैसे अंकुरे... ? कंछे कैसे उगते आ रहे हैं ?

मुझे ऐसी आशा नहीं थी कि कभी मुझे यह प्रश्न भी कुछ लिखने को प्रेरित करेगा. आज इसके उत्तर की खोज में जब अपने अतीत को पीछे मुड़ कर देखता हूं तो लगभग तीस-पैंतीस साल पीछे एक वृद्ध खड़े दिखते हैं... धनपत सिंह !

मेरा गांव गुरहा (जिला पलामू / झारखंड) जो गढ़वा रोड स्टेशन से मात्र दो किलोमीटर पूरब में है... बेहद धनी है. पूरब में धनकाई नदी, उत्तर में पहाड़ और जंगल, दक्षिण में कोयल नदी. हम बच्चे जंगल, पहाड़ और नदियों में ही खेलते बड़े हो रहे थे. तब मैं पांच-सात वर्ष का होऊंगा जब धनपत बाबा जैसे सदेह कथा-नायक के संपर्क में आया था. गांव-गोतिया के नाते वे मेरे बाबा (दादा) लगते थे. लंबे-तगड़े सात फीट के धनपत बाबा की जवानी की एक कथा है.

नित्य चार बजे भोर में ही वे कोयल नदी के किनारे पंहुच जाते. रेत पर भागते, कसरत करते और ब्रह्ममुहुर्त में स्नानादि कर घर लौटते थे.

बाबा ने कपड़े फींचने के लिए नदी में एक शिला रख छोड़ी थी जिसे वे कोस भर दूर के कोठिलवा पहाड़ से उठा कर लाये थे. उनके अपरिमित बाहुबल और वृषभ स्कंधों की गवाह तकरीबन सत्तर-अस्सी किलो की वह शिला आज भी नदी-तट पर पड़ी है. जड़ की शाश्वतता और चेतन की नश्वरता का उद्घोष करती.

नदी की राह में एक जिन्न रहता था. वह धनपत बाबा के साथ रार पसारने लगा. नित्य रात को वह शिला को नदी से हटा कर बीच राह में किसी खेत में फेंक देता था. बाबा इसे गांव के छोकरों की बदमाशी समझते. बच्चों की दादियों से मधुर संबंध जोड़ते, गरियाते, शिला को उठा कर फिर-फिर नंदी तक ले जाते.

रोज-रोज के शीतयुद्ध से आज़िज आ कर एक रात धनपत बाबा नदी की कछार में ही छुप कर बैठ गये. ज्योंही जिन्न ने शिला को हाथ लगाया उन्होंने लपक कर जिन्न की बांह थाम ली. इस बात से पूर्णतः अनभिज्ञ कि उनका सामना किसी अशरीरी से हो रहा है. उन्होंने उसे ललकारा. फिर तो ठन गयी.

अर्धरात्रि में नदी किनारे हुए मल्लयुद्ध में आखिरकार बाबा की मुट्ठी में जिन्न की चुटिया आ गयी. जिन्न की ताकत बाबा की गिरफ्त में आते ही जिन्न ने अपना परिचय दिया. कहा कि वह तो बाबा के बाहुबल की परीक्षा ले रहा था. जिन्न ने बाबा को शक्ति और अपराजयता का वरदान दिया. यह एक ऐसी कथा है जिस पर छुटपन में मुझे पक्का विश्वास था. अब संदेह... कोई गवाह जो नहीं पर बाबा के पौरुष के ऐसे भी किस्से हैं जिनके गवाह ब्रिटिश अफसरान रहे थे.

तब अंग्रेजों का जमाना था जब धनपत बाबा की मसें भीगी थीं. अंग्रेजी हुकूमत उस वक़्त वन्यक्षेत्रों में राजे-रजवाड़ों के द्वारा ही शासन करती थी. मेरे गांव से पांच सात किलोमीटर उत्तर में विश्रामपुर की पहाड़ियों पर ऐसे ही एक चेरो वंश के राजा का किला था. आधा-अधूरा अब भी है. किले के प्रांगण में विजयादशमी के दिन भैंसों की बलि दी जाती थी.

नवमी की अर्धरात्रि में ही धनपत बाबा स्नान करते. देह पर तेल चुपड़ते. फिर एक लंगोट पर दस सेर की तलवार थामे दौड़ते हुए गांव से निकलते. विश्रामपुर पहुंचते...पैदल ! सूर्योदय से पूर्व भैंसे का वध करते और रक्तस्नात तलवार लिये वापस लौटते. शर्त यह थी कि बलि-महिष की गर्दन एक ही बार में धड़ से जुदा न हुई तो तलवारधारी की मूंछें मूंड दी जायेंगी. बाबा की मूंछें बुढ़ापे में भी पैनी थीं.

उनकी युवावस्था की ये दो दास्तानें मुझे आज भी रोमांचित कर देती हैं.

मेरे पाठशाला जाने की उम्र तक बाबा काफी बूढ़े हो चुके थे. अंगीठी में पकाया हुआ सोंधा प्याज बहुत खाते थे. हमेशा कुछ-कुछ पढ़ते रहते थे. कुंवर विजयमल, शीत-बसंत, सोरठी-बृजाभार, सारंगा-सदाबृज, तोता-मैना, बैताल-पच्चीसी, सिंहासन-बत्तीसी, नलदमयंती... कई-कई कथाएं मैं और मेरे जैसे कई लड़के साग्रह उनसे सुनते थे. वे गा-गा कर सस्वर कथा सुनाते थे. संभवतः तभी मेरे बाल मन में शनैः शनैः कहानियों के बीज पड़े होंगे. मैं कथा-कहानियों का रसिया श्रोता होने लगा था.

आज लगता है, विदेशी आक्रांताओं और बर्बर हमलावरों द्वारा नालंदा के पुस्तकालय-दाह जैसे अभियानों के बावजूद यदि भारतीय साहित्य-संस्कृति अमर रही तो इसे बचाये रखने का श्रेय हमारे लोकगायकों, आंचलिक कथा-वाचकों और भारतीय वांगमय की वाचिक परंपरा को ही जाता है.

स्मृतिकोष में बूंद-बूंद

मेरे पिता पलामू के पांकी नामक जंगल में पदस्थापित थे. ब्लॉक में. चारों ओर जंगल ही जंगल था. कच्ची बजरी की सड़कें थीं. मैंने "पांकी" में रह कर जंगल को जिया. जंगल की सुबहें, दोपहर और शामें देखीं. आदिवासियों के मेले-उत्सव, व्रत-अनुष्ठान, शिकार-हांके, देवता-ओझा, रीत-रिवाज और दुःख-दैन्य देखे. जंगल का जीवन और आदिवासियों की अदम्य जिजीविषा मुझे जादुई लगती थी. वहीं मैंने गुलेल और गोफन चलाना सीखा.

अब परत-दर-परत मन में बैठी स्मृतियों के जीवाश्म खोद कर निकालता हूं. उस कंकाल पर मांस-मज्जा प्रत्यारोपित करता हूं. चमड़ी चढ़ा कर रक्त और संवेदनाएं भरता हूं तो तैयार होती है "हांका," "मृदंग," "आरखांड," "मानुष-गंध" या "जो इतिहास में नहीं है" जैसी कहानियां.

कभी अपने खलिहान में मुट्ठी भर चावल के लिए हलवाहे को पिटता देखा था. आज "निश्चय" लिखी गयी. गांव के मेरे चाचा ने एक गरीब गड़रिये का बकरा चुरा कर खा डाला था. वह पुरानी टीस आज "पालनहार" के रूप में फूटी. ये तमाम यादें मेरी कहानियों में वर्षों बाद शायद इसी कारण आ सकीं कि लेखक औरों की अपेक्षा कहीं ज्यादा "नास्टेल्जिक" होता है. यादें उसे ज्यादा घेरे रहती हैं और बचपन की स्मृतियां ही मेरी प्रारंभिक रचनाओं का भी प्लॉट बनीं. मेरी आधी से ज्यादा कहानियों के कई सच्चे पात्र आज भी जीवित हैं. वे स्वयं पढ़ सकें या पढ़वा कर सुन सकें इस कारण मैं अपनी कहानियां उन तक पहुंचने वाले अखबारों में अवश्य पुनर्प्रकाशित करवाता हूं. उनके चेहरे पर स्वयं के महत्वपूर्ण होने का भाव मुझे बेहद तृप्ति देता है. वर्ना तो आज अधिकांश पत्रिकाएं जिस सर्वहारा वर्ग के लिए होने का दावा करती हैं उनमें से निन्यानवे फीसदी पत्रिकाएं उन लोगों तक नहीं पहुंचती. गांव-गंवई के लोग कितनी साहित्यिक पत्रिकाएं देख पाते हैं ? नाम तक नहीं जानते.

जब स्कूल में था तो पिता जी कथा-कहानियों के सख्त विरोधी थे. कभी किसी मित्र-रिश्तेदार के यहां पराग, चंदामामा या नंदन दिखता तो मानो कारू का ख़जाना मिल जाता. हम उन्हें बार-बार पढ़ते थे.

कॉलेज में विज्ञान की पढ़ाई अंग्रेजी माध्यम से होती थी. विज्ञान के छात्रों में पाठ्यक्रम पर पिले रहने की संस्कृति होती है. टर्म-एग्जाम, हाफइयरली एक्जाम, सेन्टअप-टेस्ट, फाइनल परीक्षाएं और प्रतियोगिता परीक्षाओं का दबाव रहता था. कॉलेज के दिनों में मैंने विश्वविद्यालय स्तर की क्रिकेट खूब खेली. संगीत प्रतियोगिताओं में जम कर माउथआर्गन बजाया. स्केच बनाने में भी रुचि थी पर पढ़ने के नाम पर "धर्मयुग", "साप्ताहिक हिंदुस्तान" या "रविवार" की कहानियां...! वह भी छुप-छुपा कर क्योंकि हॉस्टल में विषयोत्तर चीज़ें जिस पर हिंदी साहित्य पढ़ना समय की बर्बादी, मूढ़ता और पागलपन समझा जाता था. जब मैंने सारिका का पुरस्कार कथा अंक पढ़ा तो "अपराध" (संजीव) के शचिन और संघमित्रा मुझे हफ्ते भर बेचैन करते रहे थे. "रेणु" की कहानियां मुझे उकसाती थीं कि काश मैं भी अपने पलामू-झारखंड को साहित्य में इस सम्मान के साथ उपस्थित कर पाता. परंतु लिखना मेरे वश का नहीं था ! उपन्यास या मोटे कथा-संग्रह देख कर ही मेरा रक्तचाप बढ़ जाता था. आखिरकार वर्ष १९८१ में मैं कॉलेज से निकला और...

कुफ्र टूटा

वर्ष १९८२ में मैंने हरप्रसाद दास जैन कॉलेज (आरा) में नौकरी पायी और १९८४ में शादी कर डाली. लगभग दस वर्षों तक कॉलेज के परीक्षा नियंत्रण कक्ष में कार्यरत रहा.

वह १९९५ की सड़ी गर्मियां थीं. हम परीक्षाओं में व्यस्त रहते थे और हमारे एक सहकर्मी कथाकार मित्र एक कोने में मेज-कुर्सी लगाये कहानियां लिखते रहते थे. गर्मी, पसीने और भीड़ से एकदम निरपेक्ष !

उनकी एकाग्रता मुझे चकित करती थी. सोचता यह कैसा नशा है ? आखिर कैसे लिखी जाती है कोई कहानी ? क्या होती

है कहानी गढ़ने की प्रविधि ? कहानियां रचनाकार के मानस में आती कैसे हैं और कैसे पाती हैं रूपाकार ?

जब मैंने ये सवाल पूछे तो भाई लोगों से बंदर और अदरक के मुहावरे के साथ मुझे ताने मिले कि मुझ विज्ञान के व्यक्ति को न रचना-प्रक्रिया समझ में आ सकती है और न ही साहित्य किसी नीरस वैज्ञानिक के वश का रोग है.

वैज्ञानिकों के प्रयोगों की सफलता उनकी विफलताओं और पुनःपुनः प्रयासों में ही निहित होती है. मैंने लेखक मित्रों के तानों को एक चुनौती की भांति लिया. मैंने कहानियां लिखने और उन्हें उन्हीं पत्रिकाओं में छपवाने की ठनी जो मेरे लेखक मित्र के अनुसार कथा-साहित्य की अच्छी पत्रिकाएं थीं. हालांकि तब मेरी जानकारी में कहानियां तो कादंबिनी, निहारिका, सरिता आदि में ही छपती थीं. "धर्मयुग" एड़ियां रगड़ता दम तोड़ रहा था. "सारिका" को "टाइम्स" की कृत्रिम ऑक्सीजन भी नहीं बचा सकी थी. "रविवार" की नींव हिल गयी थी और "साप्ताहिक हिंदुस्तान" अकस्मात कालकलवित हो चुका था. खैर...!

किसी जनून के हवाले हुआ मैं रात-रात भर जाग कर कहानियां लिखने लगा और एक माह में मैंने दस कहानियां लिख डालीं. यह मुंह में रूमाल ठूंस कर मैराथन भागने जैसा था. मेरा लिखा कहानी है भी या नहीं इसकी जांच के लिए मैं एक बार अपने कॉलेज के हिंदी शिक्षक एवं साहित्यकार श्री मिथिलेश्वर जी से मिलने क्या गया, कहानी की अनजानी दुनिया में अपने लिए एक मार्गदर्शक पा गया. उसी हफ्ते मैंने बुकस्टाल पर शुद्ध साहित्य की पहली साहित्यिक पत्रिका देखी. अगस्त १९९५ का "हंस"- वह पहली साहित्यिक पत्रिका थी जिसे मैंने ख़रीदा.

मैंने पाया कि अग्रज मिथिलेश्वर नये लोगों को अपनी पीठ पर लाद कर नदी पार नहीं कराते. वे बस तैरने के गुर सिखाते हैं और धारा में धकेल देते हैं. सीखो और तैरो. उन्होंने मुझे भी कभी उंगली पकड़ कर नहीं चलाया. अपनी भाषा, कथा-प्रविधि या उपकरण मुझ पर थोपने की कोशिश कतई नहीं की. यही कारण है कि उनका निकटतम होने के बावजूद मेरी कहानियों पर उनकी छाप बिल्कुल नहीं है. उनके उम्दा निर्देशन के कारण ही मैं अपनी प्रारंभिक "रेणु-ग्रंथि" से मुक्त हो सका ! हालांकि मैं अब भी मानता हूं कि जो लोग "लोक" से प्रेम की बातें करते हैं और "रेणुपन" पर एतराज वे दरअसल "लोक" का व्यापार भर करना चाहते हैं. उन्हें "लोक" से कोई प्रेम-व्रेम नहीं होता.

मेरे साथ शुरू हुए कई नये लोग प्रारंभिक अस्वीकृतियों से हताश हो कर स्थगित हो गये परंतु मुझे एक तो अस्वीकृतियां भी कम मिलीं और दूसरे मिथिलेश्वर जी का साथ मिला. कभी कोई कहानी 'कला' पत्रिका के प्रतिकूल होने के कारण लौटी और 'वसुधा' में ससम्मान छपी तब मैंने जाना कि कुछ पत्रिकाओं को साहित्य की रीति से ज्यादा अपनी "नीति" की चिंता होती है. गोकि हर पत्रिका यही दावा करती है कि वह किसी गुट, वाद या खेमे से नहीं बंधी, पर यही सच नहीं है. विरले संपादक पूर्वाग्रहों से मुक्त हैं.

आखिर कुफ्र टूटा. दिसंबर १९९५ में "नाम : अज्ञात" (हंस) और "उलूक कथा" ('छपते-छपते' दीपावली विशेषांक) नामक मेरी दो कहानियां साथ-साथ छपीं. छपे कागज़ के नशे ने मुझे रात भर सोने नहीं दिया. कई बार अपना ही लिखा अविश्वास के साथ पढ़ा. लेखन का वह जादुई नशा और मेरे साहित्यिक जीवन की वह जागी-जागी तिलस्मी रात... बड़ी ख़ूबसूरत रात थी.

पहली किताब

जब किताबघर (प्रकाशन) द्वारा "आर्य-स्मृति साहित्य सम्मान-१९९५" हेतु कथा-संग्रह की पांडुलिपियां आमंत्रित की गयी थीं तब मेरी मात्र दो कहानियां प्रकाशित थीं. फिर भी अग्रज मिथिलेश्वर मे मुझ अनाड़ी को इस मल्ल में धकेल दिया. पूरे भरोसे के साथ !

पुरस्कार "पिंटी का साबुन" को मिला. मुझे अपने दुःसाहस पर खीज हुई परंतु जब किताबघर से मुझे पत्र मिला कि मेरी पांडुलिपि "रैन भई चहुं देश" 'रनर-अप' रही है और पत्र के साथ पुस्तक के प्रकाशन हेतु अनुबंध पत्र भी नत्थी मिला तो मेरा कलेजा नयी दुल्हन सा धड़कने लगा था. एक नवोदित लेखक के लिए यह सर्वथा अप्रत्याशित जो था.

अग्रज मिथिलेश्वर जी ने तब मुझे कई साहित्यिक पत्रिकाओं के पते दिये. मैंने शेष दस कहानियां आनन-फानन भेज डालीं. वर्ष १९९६-१९९७ में ये कहानियां "वागर्थ," "हंस," "वसुधा," "साहित्य-अमृत',' "जनसत्ता (सबरंग)," "वैचारिकी संकलन," "राजस्थान पत्रिका," "संभव" (कथा विशेषांक) आदि मंचों पर छपती गयीं. विडंबना यह हुई कि आज वर्ष २००२ तक मेरी वह किताब अप्रकाशित ही है.

मेरे चाचा जो इस किताब को छपा देखना चाहते थे अब नहीं रहे. मेरी बेटी इस किताब को अपने बस्ते में रख कर स्कूल ले जाना चाहती थी... वह भी अब मुझे छोड़ कर जा चुकी है. वे अतृप्त क्या जानें कि प्रकाशन कोई मिशन नहीं, युद्ध व्यापार है और प्रकाशक साक्षात्कारों में लाख अपनी साहित्यिक प्रतिबद्धता के दावे करे होता वह अंततः व्यापारी ही है. अब "रैन भई चहुं देश" छपे न छपे पर मैं प्रकाशक सत्यव्रत जी की वायदाफरामोशी को कभी भूल नहीं सकूंगा. अंततः मैंने अपना उपन्यास "जहां खिले है रक्तपलाश" अपनी बेटी की यादों के नाम किया. यह उपन्यास नेशनल पब्लिशिंग हाउस से इसी वर्ष आने वाला है और इसके उपन्यास अंशों ने ही एक फिल्म निर्माता को इतना प्रभावित किया कि इस पर 'दस्ता' नामक फीचर फिल्म निर्माणाधीन है.

कारवां बनता गया

साहित्य में मैं किसी ग्लैमर से खिंच कर नहीं आया, न ही साहित्य को बदल डालने की किसी मिशनरी भावना ने मुझे लिखने को प्रेरित किया. मैं साहित्य में स्वयं को साबित करने की जिद के साथ आया था. अब यह जिद कहीं बिला चुकी है. अब लगता है कि साहित्य एक गंभीर कर्म है और इसे "यूं ही" (कैजुअली) नहीं लिया जा सकता. यह काम उसी गंभीरता से किया जाना चाहिए जिस तन्मयता से शोध किये जाते हैं. शायद इसी कारण "सी-गल," "मर्सी किलिंग," "रक्तबीज," "ख़त" या "परमशून्य से पहले" के लिए मुझे विषयों के अध्ययन के अलावा ज़हाजी, डॉक्टर, शोधार्थी, फौजी या अंतरिक्ष विज्ञान के जानकार लोगों के साथ कई बैठकें करनी पड़ीं.

नवोदितों के संघर्ष या संपादकीय उपेक्षा का मुझे कोई अनुभव नहीं हुआ सिवाय एक मौके के जब आदरणीय ज्ञानरंजन ने मेरी कहानी लौटाते हुए मेरी भाषा पर बेहद तीखी टिप्पणी लिख भेजी. अब भी भाषा मेरे लिए हौवा है. एक ऑबसेशन... ! मैं इस मामले में भाग्यशाली रहा कि लेखन के प्रारंभ में ही मुझे श्री प्रभाकर श्रोत्रिय, राजेंद्र यादव, कमला प्रसाद, गोविंद मिश्र, धीरेंद्र अस्थाना, श्रीनिवास शर्मा, प्रणव कुमार बंदोपाध्याय, विभांशु दिव्याल या विभूतिनारायण राय जैसे सुलझे दृष्टिवान और सहृदय संपादक मिले जिन्होंने मेरी अनगढ़ चीज़ों को भी रचना का मान दिया. ख़ास तौर से मैं राजेंद्र यादव जी का आभारी हूं जिन्होंने समय-समय पर पत्रों द्वारा मुझे डांट भी पिलाई. ऋणी हूं डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय जी का जिन्होंने मुझे फटकारने के साथ बेहद स्नेह भी दिया. और भाई रूप सिंह चंदेल को मैं कैसे भूल सकता हूं ?

रूप भाई जब "बीसवीं सदी की आंचलिक कहानियां" संपादित कर रहे थे तो मैंने भी अपनी कहानियां भेजी थीं. रूप भाई ने मेरी एक कहानी इस संग्रह में शामिल करने के वायदे के साथ जब मेरा परिचय मांगा तो मैं लजा गया. क्या परिचय देता...? चार कहानियां प्रकाशित ?

मेरी कहानी उक्त संग्रह में शामिल न हो सकी... कारण चाहे जो रहा हो पर रूप भाई के रूप में मुझे एक शुभेच्छु अवश्य मिला जिसने मुझे गांव की परिधि से बाहर भी निकलने की राय दी. कोई बड़ी चीज़ लिखने को उकसाया. यदि मैंने "रहस्य की एक रात," "घोड़ा," "भूत," "ग्लेशियर" जैसी कहानियां या अपना पहला उपन्यास लिखा तो इसके पीछे कहीं न कहीं रूप भाई की प्रेरणा भी रही वर्ना क्या मैं बिहार के बाहर के विशाल पाठक वर्ग से जुड़ भी पाता ? यह और बात है कि नागरीय परिवेश की कहानियां लिखने के बावजूद मेरा मन ज़हाज के पंछी की भांति फिर-फिर गांव के मस्तूल पर ही लौटता रहा है.

लगभग इसी दौर में मुझे मिले अनंत कुमार सिंह. मेरे परिचित-शुभचिंतक. शायद मुझसे नाराज़ हों पर आज जब मैंने अपना गुल्लक तोड़ा तो उसमें से मिताई की चमक वाला सिक्का सिर्फ एक निकला जिस पर अनंत का नाम खिला है. साहित्यिक-गैरसाहित्यिक दोनों किनारों पर ताकता हूं तो बस एक अनंत, मेरे एकमात्र सखा, हमदर्द, हमराज़ और हमकदम. इस भावुक, ईमानदार, संवेदनशील, सच्चे और प्रतिबद्ध इन्सान से मैं बेहद प्यार करता हूं. अनंत के लिए मैं कुछ भी कर सकता हूं... किसी का कत्ल भी...! इस आदमी की देह से दोस्ती की महक फूटती रहती है. अनंत नाम के इसी महाचुंबक ने मुझे जनवादी लेखक संघ में खींच लिया. जलेस में आने के बाद मैंने देखा कि गरीब आदमी बेईमान कतई नहीं हो सकता. मजबूर की वया मजाल जो वह कामचोर हो कर दिखाये. सांप्रदायिक कट्टरता मुसलमानों में नगण्य होती है. कोई भूमिपति उदार तो हो ही नहीं सकता न कोई सवर्ण कुलजन्मा दलित !

मुझे लगा, यथार्थ जटिल से जटिलतर होता जा रहा है और यथार्थवाद का जाप करते हुए रचनाकार वस्तुतः आदर्शवाद के कल्पनालोक में जिये जा रहा है. यथार्थ की भयावहता से आंखें चुराते हम निंदा या अकेले पड़ने के भय से यह कहते डरते हैं कि "राजा नंगा है" या "नौरंगी दरअसल बीमार नहीं है". कट्टर भगवाधारियों पर हमने कई कहानियां लिखीं पर किन्हीं जाहिल मुसलमानों के प्रति अपेक्षाकृत नरम तेवर रखे. हमने अपने साहित्य को निजी संपत्ति समझ लिया जबकि इसका सारा कच्चा माल हमने समाज से लिया है और तैयार चीज़ें समाज को लौटाने के प्रति वचनबद्ध हैं. यदि ऐसा नहीं हो पा रहा तो शायद इसलिए कि विचार को विचारधारा और विचारधारा को प्रचार में ढालते हुए हमने अपनी सामाजिक, नैतिक, वैयक्तिक और साहित्यिक प्रतिबद्धताओं को राजनैतिक प्रतिबद्धता के साथ जोड़ डाला. मैं ऐसा करने के पक्ष में नहीं हूं.

मै प्रतिबद्ध हूं अपने देश-काल के प्रति जिसकी संपत्ति विनिवेश के नाम पर औने-पौने भाव में चंद औद्योगिक घरानों को बेची जा रही है. बिना किसी सैनिक अभियान के ढंबे पांव हम अपनी स्वाधीनता खोते जा रहे हैं. मेरी प्रतिबद्धता की गर्भनाल जुड़ती है अपने पलामू के वर्षा-वंचित पठरों से. उन हलवाहों, मदारियों, संपेरों, गड़रियों, नटुओं, बहुरूपियों और आदिवासियों का मैं कर्जाई हूं जिनके दुःख-दैन्य, संघर्ष और अमर्ष मेरे साहित्यिक संघर्ष के उर्जा स्रोत हैं इसलिए जब कोई भीम सिंह पहलवान दलित और गैरदलित दोनों ही सभाओं से बहिष्कृत हो कर महादलित की भांति जियेगा-मरेगा तो मैं "संभावामि युगे-युगे" अवश्य लिखूंगा. जब वर्षों बाद मेरा स्कूली दोस्त शेरअली मुझसे मिलता है और एक प्यारा मुस्लिम यार किसी कट्टर मौलवी में तब्दील हो चुकता है तो मैं यह मानने से इन्कार करता हूं कि

यथार्थ उतना ही सरल, एकांगी और इकहरा होता है जितना कि बताया जाता रहा है. मैं विचाराधारा के नाम पर किसी सच पर पर्दे डालने की बजाय "नया चेहरा" ज़रूर लिखूंगा. फिर चाहे साहित्य की अदालतें जो फैसले दें. मुझे न सत्ताइस की तमन्ना है, न सिले की परवाह !

मैं, धारा में बहता एक पत्ता

वर्ष २००१ में मेरी कहानी "आरखांड", 'कथाक्रम कहानी प्रतियोगिता' की सर्वोत्तम रचना चुनी गयी ! इसी वर्ष मेरे पहले कथा-संग्रह "हांका" को सागर (मध्यप्रदेश) से 'दिव्य रजत अलंकरण' प्रदान किया गया. नामी-दामी पुरस्कारों की भीड़ में ये पुरस्कार-सम्मान कितने महत्वपूर्ण हैं यह बहस अश्लील है. अंधे के हाथ जब बटेर लग जाती है तो वह बटेर के पर गिनने नहीं बैठ जाता. वह भौंचक्का और हक्का-बक्का रह जाता है. साहित्य को प्रायः उपहास का विषय मानने वाली बिरादरी का एक रसायनशास्त्री मैं, जब पचास कहानियां लिख जाता हूं और इसे एक गंभीर कर्म से ज्यादा...बल्कि ऑक्सीजन समझने लगता हूं, तो मुझे अपने इस बदलाव पर आश्चर्य होता है. और कहीं से भी मान्यता पाने के बाद भौंचक्का रह जाता हूं.

महान होते हैं वे लोग जो मरणांतक पीड़ा को भी पी-पचा कर सृजनरत रह पाते हैं. निराला, शिवप्रसाद सिंह, गोविंद मिश्र, शैलेश मटियानी...! उन मील के पत्थरों जैसा दम-खम मुझमें नहीं है. मुझमें नहीं है दुःखों को पचाने की क्षमता... विदेह हो जाने का सामर्थ्य ! अपनी जननी और अपनी जन्मी के देहावसान के बाद मेरे लेखन की गति बेहद धीमी हो चुकी है. हर रचना पूरी करने के बाद लगता है कि अब बस...! कुल जमा सात-आठ वर्ष ही थी मेरी साहित्यिक आयु. सप्ताह, महीने तक कुछ लिखने योग्य सूझता ही नहीं और अचानक एक दिन कुछ दिख जाता है तो एक नयी यात्रा पर निकल पड़ता हूं जैसे कि आजकल...! मैं फिलहाल अपने दूसरे उपन्यास "पठर पर कोहरा" के अंतिम ड्राफ्ट को पूरा करने में लगा हूं. साथ-साथ अपने दूसरे कथा-संग्रह "ओह पलामू...!" की नोंक-पलक सवांरने में जुटा हूं. इसके बाद... ?

प्रस्तुत रचना ही संभवतः मेरे लेखन की पहली पारी की अंतिम रचना हो. साहित्य मेरा इकलौता नशा है. इसके नशे में मुझे कहानियां भी किसी प्रोजेक्ट या शोधपत्र जैसी लगने लगती हैं. इसकी प्राथमिकता में दूसरे कई कार्य उपेक्षित रह जाते हैं जैसे कि मेरा शोध. मैं एक-दो वर्षों के लिए स्वयं को लेखन से स्थगित कर अपने अधूरे शोधकार्य को पूरा करूंगा फिर वापस यदि संभव हुआ तो साहित्य में लौटूंगा. इस बीच शायद मेरी तीन-चार स्वीकृत कहानियां ही छप सकें.

लोहा बन गया हूं मैं

✍ **नरेश अग्रवाल**

सरल मार्गों का
अनुसरण कब किया मैंने
खाई-खंदक से भरी ज़मीन पर
योद्धा बनकर गुज़रा हूं मैं,
धूप में तपकर
अनगिनत रूपों में ढला हूं मैं,
वक़्त ने सौंपे जो भी काम
हंसते हुए पूरा किया उन्हें
थका नहीं कभी हूं मैं,
पहाड़ों पर चढ़ते हुए
लोहा बन गया हूं मैं,
तूफानों को झेलते झेलते.

आर. जे. एस. बिल्डिंग, डायगनल रोड,
बिष्टपुर,जमशेदपुर - ८३१ ००१

सागर-सेतु बंधन में मेरी कंकड़ियां क्या महत्व रखती हैं मुझे इसकी फिक्र नहीं. चिंता है तो बस यह कि मैं कंकड़ियां डालने से चूकूं नहीं. ऊबूं नहीं. साहित्य के महानद में बड़े-बड़े ज़हाजों, मजबूत नावों और कलात्मक कश्तियों की भीड़ में मैं अपने को तिनके पर टंगे पत्ते सा तैरता महसूस करता हूं. सभी अपने लक्ष्य की ओर मजबूती से बढ़े जा रहे हैं और मुझे लगता है कि अब डूबे... तब डूबे... और यह बैरिन धारा कहती है चरैवेति... चरैवेति...!

इस आत्मरचना में कई लोगों का जिक्र आया पर "मां" के लिए मात्र एक शब्द ! खुशकिस्मत होते हैं वे जो उम्रदराज़ होने तक अपनी मां की गोद में सिर रख कर रो सकते हैं. मां के कंधे से चेहरा टिका कर हंस सकते हैं. मैं अपनी स्वर्गीया जननी के सम्मुख शर्मिंदा था, हूं और रहूंगा. उसने मुझे डॉक्टर बनाने का सपना देखा था और मैं नालायक उसकी उम्मीदों पर खरा न उतर सका.

मुझे अनीता से प्रेम हुआ तो सिर्फ इस कारण की उसकी कत्थई, गहरी और बड़ी-बड़ी आंखें एकदम मेरी मां की आंखों जैसी हैं. अब वह मेरी पत्नी भी है और मेरी मां भी और उसका जिक्र इस फसाने में है !

जयप्रकाश नगर (कतीरा), आरा - ८०२ ३०१

सूर और तुलसी से अधिक किसका बाजारीकरण है ?

- डॉ. नंदलाल पाठक

(डॉ. नंदलाल पाठक से रास बिहारी पांडेय की बातचीत)

गंगा गोमती के संगम पर स्थित ऋषि मार्कंडेय की तप स्थली औड़िहार जंक्शन (उत्तर प्रदेश) से मुंबई तक की यात्रा तय करने वाले डॉ. नंदलाल पाठक ने इस चमक दमक, आपाधापी व भागदौड़ की ज़िंदगी वाली विशुद्ध भौतिक नगरी में शिक्षण कर्म से जुड़े रहते हुए भी अपनी बहुमुखी प्रतिभा व मौलिकता के बल पर जो कीर्तिमान स्थापित किये हैं, वे नयी पीढ़ी के लिए एक आदर्श हैं. यूं तो साहित्य की हर विधा में उन्होंने लेखनी चलायी है, किंतु ग़ज़लकार के रूप में उन्हें विशेष ख्याति मिली है. ग़ज़ल गायन के शीर्ष पुरुष जगजीत सिंह समेत कई ख्यातिनाम गायक, गायिकाओं ने इनकी रचनाओं को स्वर दिया है. जहां उन्हें नेपाली, बच्चन और ज़िगर जैसे लोगों का सान्निध्य प्राप्त रहा है, वहीं आज के अनेक नामी गिरामी लेखक व अभिनेता उनके शिष्य रह चुके हैं. आकाशवाणी और दूरदर्शन के अधिकांश प्रारंभिक हिंदी कार्यक्रमों के वे सलाहकार रहे हैं. विगत कई वर्षों से वे बी. आर. चोपड़ा प्रोडक्शन्स की सलाहकार समिति के एक मानद सदस्य हैं.. अब तक उनके दो काव्य संकलन 'धूप की छाँव' और 'जहां पतझर नहीं होता.' प्रकाश में आये हैं. उन्होंने ढ़ेर सारा गद्य साहित्य भी लिखा है जिसे पुस्तका कार आना अभी बाकी है. उनकी व्यस्तता के मद्देनज़र मैंने बहुत कम समय में कुछ गूढ़ प्रश्नों पर उनके विचार प्राप्त किये जो यथारूप प्रस्तुत हैं -

● स्वातंत्र्योत्तर कविता ने कई आंदोलनों को जन्म दिया, इससे साहित्य का कितना भला हुआ ?

स्वतंत्रता के बाद हर आदमी कुछ ज्यादा ही स्वतंत्र हो गया, लोग प्रचार और दल के बल पर कवि बन बैठे. किसी भी पहेली को कविता बना देने की इतनी प्रतियोगिता और भाग दौड़ हुई कि लोग गद्य से बढ़ कर गद्य लिखने लगे. साहित्य में भी अनधिकृत व घुसपैठियों का समावेश होने लगा. जितने भी आंदोलन आये, उनमें एक भी परिपक्व आंदोलन नहीं था, सबका गर्भपात ही हुआ. किसी का तीन महीनों में, किसी का छह महीनों में, किसी का सात महीनों में. अधिकांश राजनीति की छाया में थे. इनमें कविता का मूल जो रसात्मकता व रागात्मकता है, कहीं थी ही नहीं. राग और अनुराग जो कविता के दो पैर हैं, उन्हें तोड़ कर कविता की जाने लगी, जिससे उपलब्धि के नाम पर कुछ भी हासिल नहीं रहा.

● इन आंदोलनों के दौरान कुछ खास नाम उभर कर आये, क्या इसे उपलब्धि नहीं कहा जा सकता ?

कुछ अच्छे लोग ज़रूर उभरे, लेकिन आंदोलनों के बगैर न उभरते ऐसा कहना ठीक नहीं होगा. जो अच्छे थे, वे बिना ठप्पे के ही आज भी पहचाने जाते हैं, कौन किस आंदोलन में रहा, किसी को याद नहीं रहा.

● मुक्तिबोध और धूमिल के बारे में क्या सोच है आपकी ?

मुक्तिबोध विचारक कवि हैं, उनका महत्व विद्वानों के लिए है, उनकी एक पंक्ति नहीं उद्धृत की जा सकती, पैराग्राफ उद्धृत किया जा सकता है. तुलसी, बच्चन, नेपाली, महादेवी आदि की एक पंक्ति पढ़ या सुन कर भी हम पुलकित हो सकते हैं. धूमिल ने चौंकाने के लिए वासनात्मक बिंबों को पकड़ा, उनकी ही राह राजकमल चौधरी और कुछ अन्य ने भी पकड़ी. चाहे जैसे चर्चा में बने रहने के लिए, यश प्राप्त करने के लिए (सुयश हो या कुयश इसकी परवाह किये बगैर) गालियां और घृणा के पात्र रहकर भी नाम को ऊंचाई देने की तरकीब निकाली गयी. नवगीत की ज़रूरत भी कवियों ने महसूस की. जनता को गीत, नवगीत का अंतर न पहले पता था, न आज है. अच्छे गीतों की ही तलाश लोगों को सर्वदा रही है. नवगीत के बहाने थोड़ी मठधीशी चली. कुछ लोगों का नाम ऊपर हो गया. बाकी जो आगे पीछे नहीं लगे, ऐसे बहुतेरे गीतकारों की कोई चर्चा ही नहीं हुई.

● फिलहाल हिंदी ग़ज़ल का बड़ा शोर है, जितना कुछ काम हो रहा है, उससे आप कहां तक संतुष्ट हैं ?

हिंदी कविता का केंद्र आज भी गीत है. ग़ज़ल की लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण उसका मुक्तक रूप है. गीत में एक ही केंद्रीय विषय होता है जबकि ग़ज़ल के सभी शेर स्वतंत्र होते हैं. युग की इस भागमभाग में ग़ज़ल उपयुक्त विधा है. अब खंड काव्य, महाकाव्य आदि की ज़रूरत नहीं रह गयी है, महान काव्य की ज़रूरत है. लोग कुछ पंक्तियां ही पढ़ पा रहे हैं. वैसे हिंदी ग़ज़ल में अभी पूरी भारतीय परंपरा आनी बाकी है. हिंदी

दो ग़ज़लें

✍ नंदलाल पाठक

आंसू सिर्फ न खारा हो ।
निकले तो अंगारा हो ।।
भूल हो गयी, होने दो,
लेकिन फिर न दुबारा हो ।
ऐसा विजयी कौन हुआ,
पहले कभी न हारा हो ?
मुड़कर देखूं तो, शायद -
तुमने मुझे पुकारा हो ।
तुमको भी यह शाप लगे,
कोई तुमको प्यारा हो ।
डूब न जाना खुशियों में,
जब नज़दीक किनारा हो ।
ऐसा भी तो दिन आये,
सबका दर्द हमारा हो ।

लौटना है इसे, मौसम को गुज़र जाने दो ।
फूल खिलने के लिए फूल को झर जाने दो ।।
मैं जो बादल सा उठा, छूट गया धरती से,
फिर मुझे धूल के कण कण में बिखर जाने दो ।
माझियो, तुमको मुबारक हो ये टूटी नौका,
मुझको बाहों पे भरोसा है, उतर जाने दो ।
मैं हूं शायर, मुझे है खोज नयी राहों की,
लोग आते हैं इधर, मुझको उधर जाने दो ।
कल मैं आऊंगा लिये हाथ में जलता सूरज
शाम ढलने को है, अब तो मुझे घर जाने दो ।
एक परवाना हूं मैं, सामने इतने दीपक ।
ज़िंदगी का है निमंत्रण, मुझे मर जाने दो ।।

१२५/१२ 'अमिताभ', प्रताप सोसायटी के पीछे,
चार बंगला, अंधेरी (प.), मुंबई ४०० ०५८.

के नाम पर जो ग़ज़लें कही जा रही हैं, उनमें आज भी उर्दू की ओर फिसलन अधिक है. वे उर्दू का व्याकरण लेते हैं, दर्दे दिल कहते हैं, दिल का दर्द नहीं, इसी चक्कर में ढ़ेर सारी ग़लतियां कर बैठते हैं. ख्याले ज़ुल्फ कहा जा सकता है, खयाले अलक नहीं, आबे गंगा हो सकता है, जले गंगा नहीं. हिंदी में शेर का बहुवचन शेरों होगा, अशआर नहीं. उर्दू के प्रतीक मंजे हैं लेकिन पुराने और बासी हो चुके हैं. दुष्यंत कुमार ने भारतीय परंपरा से जुड़ते हुए निख़ालिस हिंदी में बहुत अच्छे शेर कहे हैं -

हो गयी है पीर पर्वत सी पिघलनी चाहिए
इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए.

मेरा एक शेर देखें -

ज़रूरत आपको कुछ भी नहीं सजने संवरने की
किसी हिरनी की आंखों में कोई काजल नहीं होता.

हमें ग़ज़ल के शेरों को श्लोक की ऊंचाई देनी होगी.

● हिंदी आलोचना के क्षेत्र में जो कुछ हो रहा है, उसके संदर्भ में आपके क्या विचार हैं ?

हिंदी आलोचना को जो ऊंचाई रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने दी, उसे रामविलास शर्मा या नामवर सिंह जैसे लोग बरकरार नहीं रख सके. आलोचना में अब मूल्यांकन के बदले विरोध का स्वर शामिल हो गया है. यह पहले एक धारा थी, अब आंदोलन है. आलोचनात्मक मूल्यांकन अब केंद्रीय नहीं रह गया है. ज्यों ज्यों व्यापकता आयी अराजकता साथ आती गयी. बहुतेरे समीकक्ष ऐसे हैं जो साहित्य में दरोगाई के उद्देश्य से उतरे हैं. नामवर सिंह अपने प्रथम चरण में कवि ही थे लेकिन दूसरों पर डंडे बरसाने और स्वयं उन्मुक्त रहने के लिए उन्होंने कविता छोड़ दी.

● मीडिया के चलते अब साहित्य का भी बाजारीकरण हो चला है, क्या यह साहित्य के लिए अशुभ संकेत नहीं ?

बिलकुल नहीं, बाजार होना सबसे सही काम है. सूर और तुलसी से अधिक किसका बाजारीकरण है ? 'मैया मोरी मैं नहिं माखन खायो' और 'श्री गुरूचरण सरोज रज' कई करोड़ बार रोज दुहराया जाता है. यह बात और है कि उन्हें इसकी रॉयल्टी नहीं मिलती, आज होते तो मिलती. आप कहेंगे मीडिया से ग़लत चीज़ें भी प्रश्रय प्राप्त कर रही हैं, तो क्या भाषा में गालियां नहीं होतीं ? इसके लिए भाषा जिम्मेदार है, क्या भाषा पर रोक लगा देनी चाहिए ? दुरूपयोग के लिए माध्यम को नहीं रोका जा सकता. जैसे लोग होंगे, उनका उपयोग करेंगे. यह प्रश्न तो आप ब्रह्मा से करें कि उसने दो तरह की दुनिया क्यों बनायी. अपने चरित्र और व्यक्तित्व के लिए हम स्वयं दोषी हैं.

● फिल्म लेखन आज भी उर्दू की ओर झुका है, ऐसा क्यों ?

फिल्मों में प्रेमचंद, भगवती चरण वर्मा, नरेंद्र शर्मा, अमृतलाल नगर आदि हिंदी के जो भी लोग आये, वे थोड़ा बहुत काम कर चलते बने. निर्माताओं से समझौते नहीं किये. उनके पास दूसरे विकल्प थे. सरकारी संस्थानों से लेकर प्राइवेट ज़गहों तक कई कैरियर थे, पर उर्दू वाले कहां जाते, टिके रहे. इसी कारण उनका प्रभाव अब भी कायम है. हिंदी का अधिक से अधिक भला हो, इसलिए फिल्मों की ओर हिंदी के रचनाकारों को रुख करना

चाहिए. अभी तो इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में भी साहित्य से अधिक आदान प्रदान होने लगा है.

● **आज के फिल्म लेखन के बारे में आपके क्या विचार हैं ?**

मेरे ज़माने में स्थितियां दूसरी थीं. तब साहित्यिक लोग अपराध बोध के साथ और छिपकर फिल्मों में लिखते थे. साहित्यिक फिल्मी लेखकों से नाक भौं सिकोड़ते थे किंतु आज तो यह एक कैरियर हो गया है. वैसे केवल चाह जाने भर से ही फिल्मी लेखक नहीं बना जा सकता. इसके लिए बहुत संघर्ष के साथ-साथ माध्यम को समझना भी अत्यावश्यक है. फिल्मी लेखक साहित्यकार हो सकता है लेकिन साहित्यकार ही फिल्मी लेखक हो सकता है, यह ज़रूरी नहीं. फिल्म लेखन साहित्य की कसौटी नहीं है, साहित्य की कसौटी पर फिल्मों को परखा जा सकता है. कागज़ के साहित्य और आंख कान के साहित्य में अंतर समझना होगा, जबकि कोई भी साहित्यकार फिल्म लेखन को अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझता है और अवसर न मिलने से दुखी रहता है. फिल्मों में पूर्ण साहित्य नहीं दिया जा सकता, यह 'बी' क्लास का लेखन है. आज पूरी दुनिया इंटरनेट में सिमट गयी है. चूंकि दीवारें टूट चुकी हैं, अतः इंफेक्शन आयेगा ही. पूरी दुनिया में जैसी फिल्में बन रही हैं, उसका प्रभाव भारतीय फिल्मों पर पड़ना स्वाभाविक है. हॉलीवुड के लोग कपड़े पहनते हैं, यह उनकी कृपा है, चाहे तो न भी पहनें. नग्नता बिक सकती है तो क्यों नहीं बेचेंगे ? साहित्य आत्मा और चेतना के प्रति ईमानदारी के साथ साथ शाश्वत मूल्यों पर आधारित होता है, जबकि फिल्मों में मात्र कल्पना हावी होती है.

● **आने वाले दिनों में साहित्य का कैसा स्वरूप होगा ?**

और भी व्यापकता आयेगी. साहित्य के केंद्र बढ़ेंगे. पहले कुछ महानगर और सांस्कृतिक स्थल इसके केंद्र थे किंतु आगे यह कस्बों तक फैलेगा. जनता स्वयं जनार्दन है, जो ठीक होगा स्वीकारेगी बाकी स्वयं समाप्त हो जायेगा.

रास बिहारी पांडेय
सह संपादक, बराबर (पाक्षिक),
पो. बॉक्स- ८०४६, विलेपार्ले (प.), मुंबई - ४०० ०५६.

लघुकथा

दर्द की लकीर

हरिप्रसाद चौरसिया

मुंबई जाने वाली "पवन एक्सप्रेस" अपने गंतव्य की ओर तेजी से बढ़ रही थी. ग्रीष्म का प्रकोप चल रहा था. सामान्य श्रेणी के कोच में क्षमता से कई गुना यात्री भरे हुए थे. ऐसे में प्रसाधन का उपयोग तो दूर की बात लंबी यात्रा पर जा रहे यात्रियों को भोजन करने तक की ज़गह नसीब नहीं थी. कोई खड़ा था कोई उंकड़ू था कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि ज़गह नाम की कोई चीज़ न थी. ऐसे में मार्ग के कई स्टेशनों पर फेरी लगाकर खाद्य सामग्री बेचने वाले भी दो जून की रोटी की जुगाड़ में जैसे तेसे चढ़ ही आते हैं और भूखे-प्यासे यात्रियों को अपना कुछ सामान बेचकर अपनी जीविका का प्रबंध करने के साथ-साथ यात्रियों की समस्या यानि खाने की वस्तु उपलब्ध कराकर राहत पहुंचाते हैं.

सतना स्टेशन पीछे निकल चुका था और कटनी आने में अभी कुछ समय बाकी था. इसी समान्य श्रेणी के कोच में दो महिलाएं जिसमें एक अधेड़ और विधवा थी चने की टोकरी लेकर दो रुपये, तीन रुपये की पुड़िया बना कर बेच रही थी, परंतु कटनी आने से पहले ही उन दोनों ने अपनी टोकरियां सीट के नीचे खिसका दीं. उस विधवा से पूछा तो उसने कहा- "भैया क्या बतायें, टेशन आने वाला है, हमारी डलिया वहां आलूबड़े / समोसे, कचोरी बेचने वाले छीन कर फेंक देते हैं कहते कि तुम हमारा धंधा मारती हो ?"

स्टेशन के आने पर पवन के रुकते ही एक लंबा चौड़ा गठीले शरीर का खाकी वर्दीधारी पुलिस वाला इसी कोच में घुस आया और चने बेचने वाली महिला से अपना कमीशन मांगने लगा. उसने अपनी मैली कुचैली साड़ी के पल्लू से एक कोने में बंधे चंद सिक्कों में से एक दो रुपये का सिक्का निकाल कर पुलिस वाले को दिया तो उसने कहा- "हरमजादी दिन भर कमाती है और दो सौ रुपये देती है ?" उसने दो रुपये का सिक्का अपनी जेब के हवाले किया और विधवा महिला की ओर हाथ बढ़ा दिया. उसने भी फटा-टूटा एक दो का नोट उसकी ओर बढ़ाया तो उसने उसके बाल पकड़कर खींचते हुए कहा- "गांठ में जो सिक्के बांधे हैं वह क्या अपने ख़सम को देगी ?" दर्द से वह महिला बिलबिला उठी.

अंततः उसने भी एक दो का सिक्का उसकी ओर बढ़ा दिया. पुलिस वाला उतर कर चला गया. लेकिन उन बेबस दो महिलाओं के चेहरों पर उड़ती हवाई और दर्द की लकीर को स्पष्ट देखा जा सकता था. कोच पूरा भरा था लेकिन उन दोनों की दर्द की लकीर को कोई नहीं देख रहा था मैं यह सोचकर मुंह फेरे बैठा था कि इतने सारे लोग होकर भी कोई इस अन्याय के प्रति बोलने को तैयार न था. मैं भी देख रहा था, मेरा दर्द कुछ और था लेकिन इस दर्द की पीड़ा को अकेले उजागर करने की हिम्मत मुझमें भी न थी. क्योंकि मैं जानता था मेरा साथ कोई नहीं देगा. शायद अन्याय सहना ही हम सब की नियति है इन विचारों में खोया था कि पवन पुनः चल पड़ी. कटनी स्टेशन पीछे छूट चुका था. उन दोनों महिलाओं ने भी अब सीट के नीचे से अपनी चने की टोकरियां निकालीं और चने बेचने लगीं, "चने ले लो मसालेदार, खट्टे मीठे का स्वाद, सफर हो जाये पास." उनकी मधुर ध्वनि में सफर सब का पास हो रहा था लेकिन जो दर्द की एक लकीर उनमें उभर आयी थी अब कहीं दिखाई नहीं दे रही थी. शायद हर दिन की यह उनकी अपनी नियति को सहने की क्षमता बन चुकी थी. लेकिन वह दर्द की लकीर अब भी मेरे सीने पर तैर रही है ? बीच के किस स्टेशन पर वे दोनों उतर गयीं कुछ पता नहीं.

२६/७ राधागंज, देवास - ४५५००१

पुस्तक-समीक्षा

रोज़मर्रा स्थितियों की कहानियां

✍ निर्मला डोसी

अपनी 'इक्कीस कहानियां' की भूमिका में सूर्यबाला जी ने लेखन के संदर्भ में तीन मोटी बातें कही हैं. पहली, लेखक का चरम प्राप्य, उपलब्धि या सुख लेखन ही है. प्रत्येक लेखक यह चाहता है कि लेखन के बाद जो सुख उसे मिलता है वही पाठक को भी मिले. दूसरी बात बड़ी गहरी व समसामयिक परिदृश्य की है. आज कद्दावर लेखकों की बेचैनी का कारण रुतबा, दर्जा, विदेश यात्राएं व लखटकिया पुरस्कारों के बावजूद यह है कि पाठकों के साथ उनका आत्मीय रिश्ता नहीं है. कटु सच्चाई यही है कि समीक्षकों, चिंतकों, विचारकों के साथ संबंध सुधारने के कई लटके आजमाये जा सकते हैं मगर पाठक नामधारी जीव को बहलाना इतना आसान नहीं है. उसे लेखक का रुतबा नहीं, कहानी चाहिए जो उसके मर्म में बैठ कर उसे हंसाने, रुलाने और सहलाने वाली हो. शब्दों की चकाचौंधी सजावट और शिल्प के विलक्षण प्रयोगों में वह नहीं आने वाला. और तीसरी बात बड़ी सूक्ष्म है कि साहित्य शास्त्र की परंपरा से पाठक की दृष्टि का विस्तार तथा रुचि का परिष्कार साहित्य का मूल उद्देश्य है. पाठक के वैचारिक धरातल को ज्यादा उर्वर तथा ग्रहणशील बनाना भी लेखक का नैतिक दायित्व है.

अपनी इक्कीस कहानियों में सूर्यबाला ने इन तीन मूलभूत बातों का प्रत्यक्ष प्रमाण दिया है. तकरीबन सभी कहानियां उस सच से रूबरू कराती हैं जो व्यक्ति के आसपास घट रहा होता है. बेशक अभिव्यक्ति के साधन सिर्फ लेखिका के पास रहते हैं. इस पुस्तक की सरल बल्कि सहज भाषा, रोज़मर्रा के जीवन की घटनाएं, कथ्य और स्थितियां पाठकों के भावों को उद्वेलित कर उनमें प्रगाढ़ दोस्ती सी कर लेती हैं. संग्रह की सभी रचनाएं उन मर्मज्ञ पाठकों के लिए हैं जो स्तरीय होने के साथ सहज ही हृदयंगम हो जाने वाली रचनाएं पढ़ना चाहते हैं. जो रचना हृदय में बैठने का सामर्थ्य नहीं रखती उसे पूरा पढ़ जाने का दबाव कम से कम पाठक पर तो नहीं ही होता. आज उसके पास बौद्धिक रंजन के अनेक दूसरे विकल्प मौजूद हैं.

अनुभवों की विविधता के लिहाज़ से ये कहानियां जीवन के विविध रंग बिखेरती हैं. पहली कहानी 'बाऊजी और बंदर' में बेटे के घर आये बाऊजी का कुछ उपयोग हो, उनसे कोई सहूलियत तो पायी जाये, और उन्हें बंदरों को भगाने का काम सौंपा जाता है बिना यह जाने, कि हनुमानजी के परमभक्त बाऊजी के लिए डंडा लेकर बंदरों को खदेड़ना कितना मुश्किल होगा.

'उत्तरार्ध' में मां नाम की घर की धुरी की कथा है. जिसने सालों साल कभी नहीं सोचा कि उसे कब भूख लगी कब प्यास. घर के सभी सदस्यों का तापमान भांपती उस स्त्री को यकायक लगता है कि उसके लिए उसकी मां की तस्वीर से दुलार फूट रहा है. सच...मां के अतिरिक्त दूसरा कौन है उसकी चिंता करने वाला...न पति न पूत. एक स्त्री, एक पत्नी किन अदृश्य दबावों में जीती है. यह कहानी पढ़ने के बाद, बहुत सारा वक़्त इस तहकीकात में गुज़रता है कि किस आत्मीय ने स्त्री को पूछा.

'मुंडेर पर' अनकहे आकर्षण और मासूम भावनाओं की कहानी है. 'बहिश्त बनाम मौजी राम का झाड़ू' में संतोष व शांति पाने के अनोखे अंदाज हैं. तनाव पालने के समृद्धि से ठसे आधुनिकतम कारण भी. डायमंड टॉवर की शाहना जीवन शैली के बीच भी समृद्धि संपन्नों को कई शिकायतें हैं. जैसे देर तक फोन की घंटी बजना, ग़लत नंबर लग जाना किसी के द्वारा कालबेल को देर तक दबाये रखना, धोबी-ग्वाले के जाहिलपन से उपजी खीझ, एकरसता और अब की स्थिति में 'हाउ टू एवाएड मेंटल स्ट्रेस' या 'योगा द बेस्ट' क्योर की शरण में जाना. जबकि इसी टॉवर के नीचे मौजीराम मगनमन इस तरह झाड़ू लगा रहा होता है जैसे बेहद नफासत भरा काम निपटा रहा हो. पहला ऐशोआराम के बीच घोर दुःखी, दूसरा अपनी सामान्य स्थिति में भी परम संतुष्ट.

'संताप' संग्रह की एक ज्वलंत मर्मस्पर्शी कथा है, जो संवेदनाओं को महज़ छूती नहीं झकझोर देती है. पानी की लहरों में डूबते नन्हें भाई को बचाने, कूद पड़ी अपाहिज बच्ची की विस्मित कर देने वाली बहादुरी और भरे-पूरे काय्यर पति का विक्षुब्ध कर देने वाला आचरण. "कोशिश तो की जा सकती थी जैसे उस बच्ची ने छोटे भाई के लिए की," यह छूट दुनिया की किसी औरत को क्यों नहीं मिली कि वह इस किस्म के पति की नामर्दगी को उजागर कर सके ? पति का निर्ममता से कहना- "तुम्हारे जैसी उपलब्धियां जैसे यह, यानि विवाह के सात साल बाद तोहफे के तौर पर अपाहिज लूली बच्ची !" बेध देने जैसा कथन...अंगारे बने शब्द जो पाठक को भी सुलगा कर रख देते हैं. अपाहिज क्या सिर्फ अंग-भंग वाले होते हैं ? 'गीत चौधरी का आखिरी सवाल' आज भी अनुत्तरित है, "क्या कह दूं कि ठहर जाओ कुछ दिन और...समाज के बदलने का इंतजार कर लो."

'कहां तक' मैं बढ़ती उम्र की दौड़ को पछाड़ने का प्रयत्न करती युवा मिनी की मां और हर पल "श्योर...श्योर," "हैं हें हें हें" करते बिना रीढ़ वाले पापा...जाना पहचाना कथ्य मगर मानवीय अनुभूतियों की गहरी पकड़ और शिल्प की प्रौढ़ता भी. लेखिका जितना कहना चाहती है पाठक उससे ज्यादा समझ लेता है, और यह रचनाकार की सफलता भी है.

'एक इंद्रधनुष जुबैदा के नाम' लेखिका की शुरुआती कहानी होने के बावजूद अपनी संरचना और मार्मिकता की दृष्टि से परिपक्व रचना है. नोना, गोखे जैसे आंचलिक अनछुये टटके शब्दों का प्रयोग और जुलेखा की हरी-फिरोजी ओढ़नी के रंग एकमेक हो जाते हैं.

'गुफ्तगू' दिनोदिन बढ़ती जा रही संवेदनहीनता का एक जीवंत चित्र है. मर जाने वाले व्यक्ति की इच्छा पूरी करने का वक़्त भी नहीं निकाल पाता आज का व्यक्ति. बदलते वक़्त की सोचों का दो टूक चित्रण. 'पीले फूलों वाली फ्राक' में अबोध अनुभूतियों को पिरोती व्यक्ति के अंतरजगत में चलती कशमकशों का अनोखा चित्रण है.

'आखिरी विदा' में सात साल बाद परदेश से लौटे बेटे के लिए मां की भावनाएं, उसकी तैयारियां, उसकी सोच, उसकी बातें...निरंतर चहल पहल भरे अतीत में पनाह ढूंढ़ती मां...बेटा अतीत और वर्तमान में नहीं रुक सकता था. समय और उम्र उसके लिए चढ़ते सूरज की सीढ़ियां हैं जो उसे तय करनी हैं.

'बकौल काल्या' लीक से हट कर उघाड़ा गया सच. जहां तक सुधी लेखिका की दूरदृष्टि ही जा सकती थी. -कैसे करती मुक्त उसे मैं...खुद अपने महिमा मंडित चंदोवे से नीचे लुढ़क कर नहीं आ जाती.

'रहमदिल' में अनपढ़ रहमत अली किस तरह भ्रष्ट रेलवे वालों की बेरहमी का शिकार हो जाता है. जीवंत तथा रोज़ घटित होने वाला बयान.

'न किन्नी न' कहानी का कथ्य, परिवेश और परिणति जानी पहचानी है. मगर सिर्फ एक शब्द न ज्यादा न कम से कथा का समूचा मर्म और पीड़ा सर्र से पाठकों के अंदर उतार देने की कुव्वत के लिए यकीनन लेखिका साधुवाद की हकदार हैं. जब मां किन्नी से पूछती है -"मैं जाकर कहूं क्या." और उदास किन्नी कहती है "किससे ? आकाश से...पड़ोसन से...या मौसी से..." किससे करेगी शिकायत वह. मन के बंधनों को शब्दों का पहरावा पहनाया ही नहीं...तब उपालंभ दे भी तो किसे ?

'सतहें' आम आदमी के अभावों की मार्मिक कहानी है. जो एक तरफ रहन-सहन की सतहें उघाड़ती चलती है तो दूसरी तरफ मन की सतहें भी.

'सुम्मी की बात' सहज-सी एक छोटी कहानी है. ऊपर से सामान्य स्थितियां खंगालती सी. लेकिन अंतिम पंक्ति पढ़ कर पाठक ठगा सा रह जाता है. विवाह पूर्व जिन युवकों की सस्ती, सतर्क व अश्लील भंगिमाएं सुम्मी को नापसंद रहती हैं वे उसके पति परमेश्वर में पर्याप्त रूप से विद्यमान हैं. ठगाई सुम्मी की होती है, और हूक पाठक के कलेजे में उठती है. 'होगी जय' भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ रहे अरुण वर्मा की कथा है.

'माय नेम इश ताता' सशक्त कथानक तथा संवेदनाओं को हिला देने वाली रचना है. दादी और पोती के आपती विश्वास की कथा..."विश्वास छोटे या बड़े नहीं होते चाहे बच्चों के हों या बूढ़ों के."

'सज़ायाफ़्ता' दीन-हीन सरल स्वाभीमानी भाई और ढसकेदार उच्चवर्गीय परिवार में व्याहता बहन के तिल-तिल घुलते चले जाने की व्यथा कथा है.

'निर्वासित' लेखिका की प्रारंभिक कहानियों में से है. जीवन के संध्याकाल में बेटे-बहू की गृहस्थी में सामंजस्य बैठने की चेष्टा करने के बाद भी दो भाईयों के बीच मां-बाप को बांट उन्हें अकेला निर्वासित कर देने की विडंबना है. मगर सच ही साहित्य में उतरता है.

'हनुमान गढ़ी की यात्रा' संग्रह की अंतिम कहानी आशा और विश्वास के टूटते पुल की कथा है. आज का कटु और विश्वसनीय सच भी है. संग्रह की समस्त कहानियां पिछले पंद्रह वर्षों में 'हंस,' 'धर्मयुग', 'वागर्थ' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं.

सूर्यबाला के पास कथा कहने की संज़ीदगी है और कहानियों में भाषा तथा शिल्प यथार्थ से पैदा हुआ है वह कहीं से आरोपित नहीं है. उनके पास भाषा है, व्यंग्य है तथा कहने की किस्सागोई शैली भी. जीवन के छोटे-छोटे प्रसंगों को जिस सूक्ष्मता से चित्रित किया गया है वह कथा रचना का एक सुरम्य वितान की रचना तो करता ही है संवेदना तथा विचारों के धरातल पर भी व्यक्ति को समृद्ध करता है.

"इक्कीस कहानियां" (क. सं.) : *सूर्यबाला*
प्रकाशक : सुनील साहित्य सदन, नयी दिल्ली **मूल्य** : रू. १५०

डी-७ शिव प्रभा, चारकोप, कांदिवली (प.) - ४०० ११०.

ज़िंदगी जीने की ताकत देने वाली कृति

✍ सुरेश चंद्र शर्मा

'ममता' डॉ. सूर्यदीन यादव का सद्यःप्रकाशित उपन्यास है. यह उपन्यास समाज में महिलाओं की वास्तविक स्थिति का आइना है. एक स्त्री को अपने जन्म से लेकर मृत्यु तक किन-किन संघर्षों, परिस्थितियों एवं विद्रूपताओं का सामना करना पड़ता है, यह उपन्यास उन सभी स्त्रियों का प्रतिबिंब है. 'ममता' उपन्यास में नारी चेतना को उद्दीप्त करती स्त्रियां -ममता, दुरपती, कलासी, मनचली, समाज के ढोंगी-पाखंडी, नरपिशाचों से भरपूर संघर्ष करते हुए जीवन की कंकरीली, पथरीली, रपटीली और ऊबड़-खाबड़ राहों पर बढ़ती हुई जीवन के सत्य को सदा उद्भासित करती रहती हैं.

उपन्यास 'ममता' की कथावस्तु ढ़ाहा गांव के एक यादव परिवार से जुड़ी है. संभव है, यह कथा सत्य ही घटित हुई हो. कथाकार डॉ. यादव का बालपन और युवापन भी उसी गांव में संभवतः व्यतीत हुआ है. डॉ. यादव की पैनी दृष्टि ने कथारस का चित्रण जिस सहजता और तन्मयता से किया है, उससे तो यही प्रतीत होता है कि उपन्यासकार ने उपन्यास की घटनाओं के क्रम को देखा, सुना और बहुत हद तक भोगा है. उपन्यास की प्रमुख स्त्री पात्र ममता अपनी 'ममता' से परिवार के सभी सदस्यों को सींचती रहती है. वह एक ऐसी नारी है, जो सचमुच में ममता की प्रतिमूर्ति है. ममता अपनी देवरानी के विधवापन को सहन नहीं कर पाती है. वह देवरानी दुरपती (द्रोपदी) के भरे यौवन और सुगढ़ नारी देह को मनचलों और कामुक लोगों की वासनापूर्ति का साधन नहीं बनने देती है. आज से चार-पांच दशक पूर्व विधवाओं की दशा ग्रामीण समाज में बड़ी ही कष्टकर और दुःखदाई थी. पुनर्विवाह की भी व्यवस्था नहीं थी. ऐसी सामाजिक-कुव्यवस्था पर कठोर प्रहार करती है - ममता. विधवाओं को सम्मान दिलवाने और पुनर्विवाह की व्यवस्था हेतु भरे समाज से संघर्ष करती है ममता. 'ममता' एक ऐसी मां है, जिसके आंचल में दूध है, आंखों में पानी भी है और परिस्थितियों से जूझने के लिए अदम्य साहस भी है. वह सुबकने और सिसकने वाली नारी नहीं है वरन् संघर्ष और निर्णय के क्षण में साहस, दूरदर्शिता और वैदुष्य की प्रतिमूर्ति है.

परिवार की एक लड़की कलासी (कैलासी) की वेदना को समझने वाली धीर-वीर और विवेकी बड़ी मां है - ममता. नशेड़ी पति की कायरता और दुर्बलता से लाचार तथा कामुक दरिंदे ससुर और जेठ की घिनौनी वासनामय मांग को नकार कर, कैलासी जीवन के लिए नया घरौंदा बनाती है. इस घरौंदे का चित्र दूरदर्शी और सुलझे विचारोंवाली ममता ही बनाती है. 'ममता' की नारी चेतना उस समय तो अपनी पराकाष्ठा को छूने लगती है, जब ममता अपने नीति निपुण और चातुर्यपूर्ण बयान एवं तार्किक ज़िरह से कलासी को निर्दोष और वासना के कीड़े राधेश्याम को दोषी सिद्ध करवा देती है.र्

'ममता' उपन्यास की भाषा सहज, सरल देशज है. अवधी और पूर्वी संस्कृति के सेतु सुल्तानपुर जनपद के गांवों में बोली जाने वाली खांटी अवधी भाषा की रसमयता हृदय को गुदगुदाती है. डॉ. यादव ने भावों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों के साथ कसरत नहीं की वरन आम बोल चाल की भाषा के सहज, सरल और चलताऊ शब्दों का सटीक प्रयोग किया है. उपन्यास के किशोर पात्र गीता और लक्ष्मण (लखमन) जो वयःसंधि के मोड़ पर ही खड़े हैं, उनमें प्रेमांकुर फूट जाता है. विपरीत लिंग के प्रति आकर्षण की मनःस्थिति का सुंदर चित्रण डॉ. यादव ने किया है. गीता और लक्ष्मण काम भावना की गहराई (तह) को न जानते हुए भी उसकी सतह पर ही प्राप्त होने वाले आनंदातिरेक में डूबे हुए सपनों के संसार में खोये हैं. किशोर लखमन और किशोरी गीता के एकांत मिलन के भावों की अभिव्यक्ति में उपन्यासकार की भाषा और शैली की रवानी की बानगी यहां दृष्टव्य है-

'ई करने से का होथै ?'

'नहीं जानता.'

'इहां न छुओ, गुदगुदी लागाथै. हंसी आ जाये. केऊ सुने तौ. काहे कांपत हो. ठंड लागाथै लिया माई की शाल ओढ़ लिया.'

'नाहीं. डर लागत है, जल्दी करो, उजाला हो जायेगा. कोई देख लेगा.'

'का करी ? का देख लेगा कोई ?'

'तू लेट जल्दी.'

'भक्क साड़ी काहे खींचे है ? खेते बीचे कोऊ बैठा होई. आजु माई के जागने के पहिले आई. माई जागी होये. चला अब.'

'ममता' उपन्यास की आंचलिकता पाठकीय मन को छूती है. जिन्हें अवधी लोक संस्कृति और लोक भाषा से थोड़ा भी लगाव होगा, उन्हें यह उपन्यास पसंद आयेगा. इस उपन्यास में वह सब कुछ है, जो ग्रामीण समाज में घटित होता है. संघर्ष, द्वंद्व और नारी चेतना का विकास भी है, विधवापन, बेमेल विवाह, बालविवाह, शारीरिक शोषण जैसी समस्या के समाधान के लिए चुनौतियां भी हैं. निर्मल प्रेम की छिट-पुट फुहारें भी हैं. उपन्यासकार अपने उद्देश्य में सफल रहा है. 'ममता' उपन्यास सूर्यदीन यादव का तीसरा उपन्यास है. इसके पूर्व भी आंचलिक बिंबों से भरपूर इनके दो उपन्यास (दूसरा आंचल और मां का आंचल) प्रकाशित हो चुके हैं. 'ममता' उपन्यास का अंतर्बाह्य कलेवर मनोरम है. सुंदर काग़ज़ पर अच्छी छपाई पुस्तक के स्वरूप में चार चांद लगाती है. कहीं-कहीं प्रूफ की कमियां और शब्दों का पुनः-अंकन मन को कचोटता है. आंचलिक सौंदर्य और गांव की माटी से प्यार करने वाले पाठकों के मन को यह उपन्यास अपनी रसमयता से अवश्य आप्लावित करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है.

"ममता" (उपन्यास) : *डॉ. सूर्यदीन यादव*

प्रकाशक : भावना प्रकाशन, १२६ पटपड़गंज,
नयी दिल्ली ११० ०९१ **मूल्य** : रू. १५०

मिश्रौली, लंभुआ, सुलतानपुर - २२२३०२ (उ. प्र.)

अभिशप्त चरित्रों का विसंगत समाज

✍ दामोदर खड़से

स्वतंत्रता आंदोलन पर भारतीय भाषाओं में कई उपन्यास लिखे गये हैं. इन उपन्यासों के माध्यम से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक और जनमानस की तस्वीर देखी जा सकती है. इसी क्रम में सूर्यकांत नागर का नवीनतम उपन्यास "यह जग काली

कूकरी" कुछ भिन्न स्वरूप और अलग विशिष्टताएं लिये हुए है. यह विशिष्टता शैलीगत और विषयगत भी है. वैसे तो यह एक सपाट बयानी में लिखा गया उपन्यास है, लेकिन उपन्यास के पात्र अपने निजी जीवन और राष्ट्रीय आंदोलन के उहापोह से एक साथ रूबरू होते हैं. इस उपन्यास में सामंती मानसिकता, शोषण, अत्याचार को भरपूर रेखांकित किया गया है. आज़ादी से पूर्व राजा-महाराजाओं, जमींदारों, राज-पुरोहितों, राज-वैद्यों आदि की मिली-भगत सामान्य जनता को किस प्रकार लूट रही थी और उनकी बहू-बेटियां किस तरह सत्ता की भयानक साजिशों की शिकार होकर बेइज्जत होती थीं, इसका लेखा-जोखा इस उपन्यास में है. इसे पढ़कर पाठक का मन आक्रोश से भर उठता है.

एक ओर समाज: धनिकों, सामंतों और समाज के तथाकथित रक्षकों के हाथों छला जा रहा था, वहीं दूसरी ओर "अंत:पुर" की विचित्र कहानियों से लोग स्तंभित रह जाते थे. एक राजा जो निबंसिया है, वह अपनी अय्याशी के लिए अपने इलाके की जवान औरतों को अपनी हवस का शिकार बनाता है. वहीं उसका वंश चलाने के लिए कोई राजपुत्र नहीं है. राज्य का वारिस पैदा होने के लिए राज-पुरोहित तमाम ग्रहों पर अपनी विद्वत्ता का असर डालना चाहते हैं और राज-वैद्य राजा की यौन-समस्याओं को दूर करने के लिए अपना सारा अनुभव दांव पर लगा देते हैं. फिर भी राजवंश की किलकारी नहीं गूंज पाती.

सूर्यकांत नागर ने अपने इस उपन्यास में जीवन की विविध अनुभूतियों को संजोया है, तमाम विसंगतियों और विरोधाभासों की जड़ें खोजने का प्रयास यह उपन्यास करता है. एक शास्त्री जी हैं, जो राजा के सारे सकंटों को अपने तथाकथित शास्त्र के आधार पर दूर करने में संलग्न हैं और राजा की हर तरह की इच्छापूर्ति उनके जीवन का पहला और अंतिम उद्देश्य होता है. पर अचानक अपने जीवन में वे अपनी प्रिय पत्नी को असमय खो देते हैं और पत्नी की बरसी से पहले ही ५५ वर्षीय शास्त्री एक २४ वर्षीय नवयुवती से विवाह के प्रस्ताव से इन्कार नहीं कर पाते और "जब पुरोहित ही दूल्हा है (सैया बने कोतवाल) तो ऐसा कौन सा पंचांग है जो शुभ-मुहूर्तों के आड़े आये. पंडित चाहे तो जोड़-तोड़ और गुणा-भाग कर कुंडलियां भी मिला सकता है और मलमास में शुभ-मुहूर्त भी निकाल सकता है". लेखक यह व्यंगात्मक टिप्पणी कर जाते हैं जो मुहूर्त की संकल्पना पर एक प्रहार है.

उपन्यासकार ने अंध-विश्वासों पर आधारित समाज रचना को जबरदस्त सेंध लगायी है. सत्ता, संपत्ति के बल पर नियंता बनने के दंभ को कथावस्तु ने इस कदर ध्वस्त किया है कि शास्त्री जी की नव-यौवना ब्याहता कंचनवाला, शास्त्री गंगाधर से विमुख हो जाती है. चंचला कंचन, पिता उम्र के शास्त्री के साथ गृहस्थी की पटरी नहीं बैठा पाती. पहिया एक दिशा में नहीं चल पाता. खड़खड़ाट होती है. इसी खड़खड़ाट में उनका घरेलू नौकर बहादुर अनायस ही कंचन के पहिए के साथ जुड़ जाता है और दयाशंकर का जन्म होता है. शास्त्री जी पुत्र-जन्म पर उदास हो जाते हैं. बात यहां रुकती नहीं है और सात वर्ष के दयाशंकर को ट्यूशन पढ़ाने आने वाले शुक्ला सर संस्कृत पढ़ाते-पढ़ाते "मेघदूत का संदेश" कुछ अधिक "गाढ़ा" कर जाते हैं और कंचन अपने दूसरे पुत्र मनोज शंकर को जन्म देती है. अब शास्त्री जी हताश हो जाते हैं और यही हादसा उनकी मृत्यु का कारण बनता है, लेकिन ये दोनों पुत्र उपाध्याय शास्त्री के ही कहलाते हैं. कंचन निर्विघ्न ही अनुभव करती है, वह भोगवाद से अपने आपको बचा नहीं पाती. परिणामस्वरूप कई लोगों के नाम उसके साथ जुड़ते रहे. अंततः शास्त्री की मृत्यु के बाद वह अपनी एक ममेरी बहन के घर एक शिशु को जन्म देती है, जिसे दुनिया उसकी बहन का बेटा मानती है, परंतु इस शिशु की परवरिश कंचन अपने दोनों बेटों की तरह ही अपने ही घर में करती है. बाद में, यह शिशु बड़ा होकर नर्मदाशंकर पाराशर के रूप में जाना जाता है.

सूर्यकांत नागर ने यह पड़ताल करने की कोशिश की है जब वर्ण-संकर परिवार की जड़ में प्रवेश करता है तब परिवार और वर्ण विरोधाभासों और विसंगतियों के चपेट में आ जाते हैं. शास्त्री और कंचन का अनमेल विवाह समाज और व्यवस्था की ग़लत बुनियाद पर हुआ था. शास्त्री की उम्र की ढलान और कंचन की उम्र की उठान में यात्रा करते हुए कंचन तीन बच्चों की मां बनती है. ये तीनों बच्चे अलग-अलग व्यवस्थाओं से विकसित होने के कारण भिन्न रुचियों और मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं. दयाशंकर राजनीति में, मनोजशंकर साहित्य में और नर्मदाशंकर पाराशर प्रशासन में अपनी पहचान बनाना चाहते हैं, परंतु, तीनों खंडित-विश्वास, अप्राकृतिक विकास, धोखा व सुविधापरस्त स्थितियों के साथ पलने-बढ़ने के कारण एक खंडित व्यक्तित्व को ढोते हैं. इनका घर-परिवार और इनकी गृहस्थी भी इस अभिशाप से उबर नहीं पाती.

उपन्यासकार ने ऐसे अभिशप्त व्यक्तियों की अंतर्कथा के साथ हमारे देश की आज़ादी की लड़ाई और आज़ादी के बाद की राजनीति, नेतृत्व, लोकतंत्र और तमाम समाजिक जीवन की विसंगतियों को बयान किया है. सूर्यकांत नागर इस लंबी कथा-यात्रा में निरपेक्ष तथा वाचक की तरह संपूर्ण दृश्य, घटनाक्रम अपने पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं. उन्होंने अपने पात्रों को अपनी नियति के अनुसार अस्तित्वपूर्ण बनाया है, परंतु कहीं भी अनाधिकार प्रवेश न कर उन्हें कठपुतली होने से बचा लिया और ये तीनों मुख्य पात्र अपनी करतूतों से अपने अंत को प्राप्त होते हैं.

सूर्यकांत नागर मूलतः व्यंग्य के प्रखर हस्ताक्षर रहे हैं. इस उपन्यास में उनका व्यंग्यकार यहां-वहां मुखरित होता रहा है और उपन्यास की कथा-यात्रा में चार चांद लगते रहे. कहावतों और मुहावरों का भरपूर उपयोग उन्होंने किया है. कई स्थानों पर

ठेठ बोलचाल के शब्द व मुहावरे अपनी अभद्रता झटककर मुद्रित शब्दों की पंक्ति बैठकर इतराते हैं. साथ ही, तेज रफ्तार दौड़ते संवादों और विवरणों के बीच छोटी-छोटी टिप्पणियां उपन्यास को एक नया रूप देती हैं. ऐसा प्रयोग नयी बात है. इससे उपन्यास का प्रभाव हल्का नहीं होता, बल्कि उसकी पठनीयता में वृद्धि होती है. उदाहरण के लिए 'आर्थिक दृष्टि से परावलंबी औरत' कितनी विवश होती है. श्रम और शरीर दोनों से उसका शोषण होता है. शायद इसका एक कारण पुरुष की तुलना में स्त्री का अधिक नमनीय, त्यागमयी और सहिष्णु होना है. वह परिवर्तनों को आसानी से झेल लेती है. (नारी शोषण के लिए इसे एक पुरुष द्वारा किया जा रहा, "स्तुति-गान" न समझ जाये.)

दयाशंकर राजनीति के सहारे मंत्री बनता है और विरासत में प्राप्त सुविधा, उच्छृंखलता, चरित्रहीनता का शिकार होकर नक्सलवादियों के निशाने पर आ जाता है. मनोजशंकर उपाध्याय साहित्य में कलम चलाते-चलाते देश की पत्रकारिता, साहित्य और सांस्कृतिक गतिविधियों का गवाह बनकर नकली प्रतिष्ठा और भ्रामक वैचारिक दुर्घटनाओं को झेलते हुए शरीर से भी लकवाग्रस्त हो जाता है. नर्मदाशंकर प्रशासनिक दांवपेंच, रिश्वतखोरी और धूर्तता की पराकाष्ठा करता हुए भ्रष्ट तो हो ही जाता है साथ ही भ्रष्टाचार के इसी दलदल में अपनी आंखें गंवा बैठता है. बड़े नाटकीय ढंग से ये तीनों भाई एक ही अस्पताल में इलाज के लिए भर्ती होते हैं. सूर्यकांत नागर ने इन तीनों भाइयों के इर्द-गिर्द हमारे देश की सामाजिक, राजनैतिक, पारिवारिक विसंगतियों को बयान किया है. इस उपन्यास में ढेर सारे विवरण हैं. आज़ादी की लड़ाई का तारीख़वार इतिहास है. आज़ादी के बाद के घटनाचक्र का विश्लेषण है. मार्क्स के चिंतन का उल्लेख है और यह सब सूर्यकांत नागर की एक विशिष्ट व्यंग्यात्मक शैली में बुना गया है.

सूर्यकांत नागर वरिष्ठ उपन्यासकार हैं. उन्होंने कई कहानी संग्रह और उपन्यास लिखे हैं. हिंदी के सम्मानित कथाकारों में उनका उल्लेख किया जाता है. इस उपन्यास के माध्यम से उन्होंने व्यवस्था के दोगले चरित्र को बखूबी उजागर किया है. अपने इस उपन्यास का नाम "यह जग काली कूकरी" रखकर वे चौंकाना नहीं चाहते, परंतु बहुत बारीकी से वे यह कहना चाहते हैं कि यह दुनिया एक काली कुतिया की तरह है, जो कभी भी काट सकती है. उपन्यास की सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि उसका कथाक्रम पाठक को बांधे रखता है. भाषा बहुत प्रवाहमान है और व्यंग्य का पुट पाकर एक सजीवता पूरे उपन्यास में व्याप्त हो गयी है.

"यह जग काली कूकरी" (उपन्यास) : ***सूर्यकांत नागर***
प्रकाशक : दिशा प्रकाशन, १३८/१६ त्रिनगर, दिल्ली ११० ०३५
मूल्य : रू. १४०

डी/डी-८, वृंदावन सोसायटी,
शांतिबन के पास, कोथरूड, पुणे - ४११ ०२९.

तनी हुई मुट्ठियों की कविताएं

✍ डॉ. सतीश दुबे

रूप, रंग और गंध के विभिन्न भाव-पुष्पों का 'अंजुरी' गुलदस्ता लेकर डॉ. ब्रम्हजीत गौतम काव्य-जगत के सम्मुख उपस्थित हैं. इस 'अंजुरी' में काव्य की खुशबू गीत, ग़ज़ल, दोहा, रूबाइयां या छंद-मुक्त रचना के रूप में विद्यमान है. इन रचनाओं में वैचारिक-धरातल पर संवेदना को स्पर्श करते हुए शब्दों को कलात्मक आकार दिया गया है. डॉ. गौतम के अंतःकरण में भाव छंदोबद्ध पंक्ति के रूप में ही जन्म लेते हैं, इसलिए ऐसी रचनाओं का सृजन करते हुए उसकी शास्त्रोक्त-पृष्ठभूमि का ध्यान रखा गया है. गीतों को ही बानगी के रूप में लें तो यह स्पष्ट होगा कि विषय चाहे राष्ट्र, श्रम, ऋतु, आकर्षण, प्रेम या विरह से जुड़ा हो उसमें स्वर, ताल और लय का पूरा ध्यान रखा गया है.

पूरे संग्रह से गुज़रते हुए पाठक का अत्यधिक मन रमता है तो ग़ज़ल या रूबाई-दोहा खंड में जहां डॉ. गौतम का कवि-मन अपनी संपूर्ण कौशल-क्षमता के साथ मौजूद है. महसूस तो यही होता है कि, कवि ने अपनी रचनात्मक-प्रतिभा को मूलतः इन्हीं शैलियों में प्रमुखता से तराशा है. भावनात्मक राग-विराग के कोमल-भावों के अलावा समसामयिक, राजनैतिक या सामाजिक स्थितियां, विसंगत व्यवस्था, व्यक्ति का दोहरा चरित्र जैसे लेखकीय-सरोकारों से संबद्ध विषयों पर डॉ. गौतम इसी माध्यम से टिप्पणी करते हैं. मसलन-

रहें मेमने कहां सुरक्षित, भरी भेड़ियों से बस्ती है ।
सारी चर्चा धरी रह गयी, संसद में धींगामस्ती है ।
चोर डकैतों से सदा, रखो मित्रता मौन ।
आ जाये सरकार में, पता नहीं कब कौन ।
कुत्तों की बाछें खिलीं, काग गा रहे फाग ।
गद्धे शान से चर रहे, लोकतंत्र का बाग ।

इन तमाम स्थितियों से गुज़रते हुए कवि उन चेहरों को बेनकाब करने में भी नहीं चूकता जो प्रतिबद्धता के मुखौटे लगाकर बदलाव का नारा तो लगाते हैं किंतु व्यावहारिक जीवन में उस पर अमल नहीं करते. "परीक्षाकाल", "सॉनिट", "वे कवि हैं", "मार्च का महीना आ गया", "सवाल" जैसी रचनाएं इसी सोच से उकेरी गयी हैं.

आशय यह कि, विडंबनाओं, विकृतियों तथा विद्रूपताओं का एक दृश्य प्रस्तुत करने वाली डॉ. गौतम की ऐसी रचनाएं पढ़ते हुए मुट्ठियां तन जाती हैं, मन विषाद से भर जाता है तथा आक्रोश ज़ेहाद के लिए हाथ ऊंचे करने लगता है.

विश्वास है भाव, भाषा, शिल्प के महीन ताने-बाने से तराशी गयी 'अंजुरी" की ये कविताएं कविता-प्रेमियों के हर वर्ग में सराही जायेंगी.

"अंजुरी" (क. सं.) : ***डॉ. ब्रह्मजीत गौतम,***
प्रकाशक : अखिल भारतीय कलामंच, मुरादाबाद **मूल्य** : रू.१००

७७६, सुदामा नगर, इंदौर - ४५२ ००९.

मैं और मेरा कवि

✍ रचना भारतीय

लोग कहते हैं तुम्हारी कविता उदास है
धुंध अंधेरा भटकाव का इतिहास है
दरअसल, मेरी कविता सच का आइना है
अंतरात्मा की आवाज़ है
जीवन की सच्चाई है
कोई दिखावा या ढोंग नहीं.
मैंने देखे हैं
घायल होकर छटपटाते और दम तोड़ते सपने
धीरे-धीरे युवाओं के टूटे हाथ
मैं झूठ नहीं सच की बात कहना चाहती हूं
सच को कविता में ढालना चाहती हूं
यथार्थ आदर्श पर हमेशा हावी रहा है
तभी महाभारत का युद्ध हुआ
बेचारा होरी गोदान में मारा गया
दरअसल मैं लिखना चाहती हूं
एक भरी-पूरी कविता
हंसी उल्लास और प्रेम से भरी कविता
लेकिन उस सच्चाई का क्या करूं
जो दिन-रात मुझे चुभती है
मैं अपने को बचाना चाहती हूं उससे
और अपनी कविता को भी
लेकिन गाहे-बगाहे और अक्सर चली ही आती है
मुझ तक और मेरी कविता में भी.

तारा प्रिंटिंग प्रेस, ५१५, नयी बस्ती,
लखीमपुर खीरी २६२ ७०१ (उ. प्र.)

जीवन में निखरा होगा पलास

✍ रवींद्र हंस

जब विरह की कसक सिमटी होगी,
भीतर पीड़ा की कोई गांठ फूटी होगी,
झलके होंगे सपने, नयन सूने भर-भर,
बिखरे होंगे पात प्रतीक्षा के झर-झर,
मन धीर, धुन-धुन हुआ होगा कपास,
तब जीवन में निखरा होगा पलास.

६, गिरनार, अणुशक्तिनगर, मुंबई ४०० ०९४.

दो ग़ज़लें

✍ राजेंद्र तिवारी

(१)

बनती नहीं दिखती है अब बात किसी सूरत ।
लगता है न सुधरेंगे हालात किसी सूरत ।।
पत्थर के लिए आंसू बेकार सही, लेकिन,
रोके नहीं रुकते हैं, जज़्बात किसी सूरत ।।
खिल सकते हैं फूलों के मुरझाये हुए चेहरे,
हो जाये जो थोड़ी सी बरसात किसी सूरत ।।
सूरज के निकलते ही मर जायेगा हर सपना,
बस यूं ही ठहर जाये ये रात किसी सूरत ।।
सच रह न सके ज़िंदा कोशिश रही दुनिया की,
फिर भी है अभी ज़िंदा सुकरात किसी सूरत ।।

(२)

दर्द के हरसिंगार ज़िंदा रख,
यूं ख़िज़ाँ में बहार ज़िंदा रख ।।
फ़ल्ह का ऐतबार ज़िंदा रख
यानी अपना वक़ार ज़िंदा रख ।।
ज़िंदगी बेबसी की कैद सही,
फिर भी कुछ इख़्तियाद ज़िंदा रख ।।
ख़ुश्बुओं की सलामती के लिए,
गुल के पहलू में ख़ार ज़िंदा रख ।।
ख़्वाहिशें मर रही हैं, मरने दे,
यार ख़ुद को न मार, ज़िंदा रख ।।
टूटने को है दम अँधेरों का,
सुबह का इंतज़ार ज़िंदा रख ।।
मौत के बाद ज़िंदगी के लिए,
तू कोई शाहकार ज़िंदा रख ।।
गर उसूलों की जंग लड़नी है,
अपनी ग़ज़लों की धार ज़िंदा रख ।।

३८-बी, गोविंद नगर, कानपुर २०८ ००६

ग़ज़लें

✍ प्रमोद भट्ट नीलांचल

जहां भी रास्ता रोशन दिखाई देता है,
उठाये नाग वहीं फन दिखाई देता है ।।

ख़ुदा को, वक़्त को, इल्ज़ाम दूं मैं किस-किसको,
अज़ीज़ दोस्त भी दुश्मन दिखाई देता है ।।

ये कौन दस्तकें देता है मेरे दरवाज़े,
किसी यतीम का बचपन दिखाई देता है ।।

वो रूठा है जभी से ये चांद रूठ गया,
हसीन रात है बैरन, दिखाई देता है ।।

हरे दरख़्तों के साये में पल रहे रहज़न,
उजाड़ डालेंगे के गुलशन दिखाई देता है ।।

जहां पे तुलसी थी, मां आरती सजाती थी,
वो सूना-सूना सा आंगन दिखाई देता है ।।

वो चुटकियों में महारत के हैं तमन्नाई
उन्हें रियाज़ भी उलझन दिखाई देता है ।।

ये किसकी शान के सजदे में हैं ये मौलाना,
ये किसको भजता बिरहमन दिखाई देता है ।।

मैं अपने गांव का मंज़र अभी नहीं भूला,
ख़जूर, आंवला, चंदन दिखाई देता है ।।

हयातो-मौत की ज़ंजीर काट दो बढ़कर
तमाम खेल ये उलझन दिखाई देता है ।।

कमाले-शौक़ ने मुझको नहीं किया अंधा
पड़ी है इल्म की चिलमन दिखाई देता है ।।

रास्ता सुर्ख़ उजालों का बना आया हूं ।
तोड़कर कैद अंधेरों की चला आया हूं ।।

ग़म नहीं है जो मेरे नक़्शे-क़दम मिट भी गये,
वो चला आयेगा मैं राह बता आया हूं ।।

आने जाने में किसी को न हो दिक़्क़त कोई ?
अपने दरवाज़े की ज़ंजीर चढ़ा आया हूं ।।

फ़र्ज पूरा हुआ मैदाने-अमल में मेरा,
मैं हवाओं में कई तीर चला आया हूं ।।

आज शब फिर तूफ़ां मेरा मेहमां होगा,
बिखरा सामान क़रीने से लगा आया हूं ।।

जुर्म मेरे न कभी रोशनी में आयेंगे
सारी बस्ती के चराग़ों को बुझा आया हूं ।।

कोई सैलाब न आगोश में ले ले उनको,
वो सफ़ीने मैं किनारों से लगा आया हूं ।।

इक फ़लकबोस इमारत थी लबे-साहिल पर
जिसका मलबां मैं समन्दर में बहा आया हूं ।।

अब वहां सिर्फ नज़र आता है, पानी-पानी
अब्रपारों को जहां पर मैं रुला आया हूं ।।

ख़ैमाजन सारा क़बीला था निगहबानी में,
सबसे छुपकर तेरी महफ़िल में चला आया हूं ।।

अब तो अंदर के अंधेरे भी नज़र आयेंगे,
अपने अंदर की मैं कंदील बुझा आया हूं ।।

द्वारा सतीश शर्मा, प्रेम विहार कॉलोनी, सागर (म. प्र.)

✍ धर्मेंद्र तिजोड़ीवाले 'आज़ाद'

उसकी तनहाई के बारे में क्या सोचा है,
तनहाई का साथ जिसे इक मेला लगता है ।।

हर इस शै का मौसम कुछ कुछ बहका बहका है,
जबसे इन गलियों से जां का दुश्मन गुज़रा है ।।

शबनम देख सुबह फूलों पर ऐसा लगता है,
धरती से मिलने को शब भर चंदा रोता है ।।

बहिना, माशूका, बीबी फिर मां का चेहरा है,
एक अकेली होकर भी वो जाने क्या क्या है ।।

उन सबके सब लोगों के घर दूर नज़र आये,
बेहद नज़दीकी से जिनको हमने देखा है ।।

जाँ-ज़िगर दिलरुबा को याद करें,
इस बहाने ख़ुदा को याद करें ।।

बावफ़ा आजमाके देख लिये,
अब चलो बेवफ़ा को याद करें ।।

जब दवा कारगर ना साबित हो,
मां की शुभकामना को याद करें ।।

डूबना हो किसी भी सूरत में,
तब किसी नाख़ुदा को याद करें ।।

आँख भारी है दिल भी भारी है,
चल 'धरम' लापता को याद करें ।।

तेंदूरखेड़ा, जिला - नरसिंहपुर (म. प्र.) ४८७ ३३७

लघुकथाएं

वसीयत

✍रमेशचंद्र पंडित

वह मृत्यु के करीब था तो उसने अपनी सारी अचल संपत्ति की वसीयत करना चाही. उसने निकट खड़ी पत्नी से कहा कि मैं चाहता हूं कि ए. बी. रोड वाला फार्म हाउस मेरे छोटे भाई को दे दिया जाये. पत्नी ने कहा कि छोटे भाई को? उसका तो मैं मुंह देखना भी पसंद नहीं करती. अच्छा तो यह हो कि यह मेरे भाई को दे दें.

पति तनिक देर चुप रहकर बोला, अच्छा है तब मेरे गांव वाला खेत अपनी बड़ी बेटी के नाम कर दिया जाये. सुनकर पत्नी ने थोड़ा क्रोध जताकर कहा, नहीं ऐसा हरगिज़ न करें. छोटी का पति बीमार है, तंगहाल भी है, उसी को आवश्यकता है. उसे ही देना ठीक होगा. विवशता में पति ने हामी भरी और पुनः एक प्रस्ताव किया कि ठीक है, पर मैं चाहता हूं कि जवाहर मार्ग पर की मेरी दवाई की दुकान, चूंकि अपना तो कोई बेटा है नहीं, अतः मृत चाचा के बेटे को दे दिया जाये. पत्नी ने जरा तैश में आकर कहा कि भूलकर भी ऐसा मत करना, वह तो कई दिनों से मेरी नज़र उस पर है. वह तो मेरे पोते के काम आयेगी जो अभी-अभी पढ़ाई ख़त्म कर चुका है.

पत्नी की बात सुनकर आसन्न मृत्यु के निकट पड़े हुए पति ने बड़े उदास होकर कहा, भागवान यह तो बता कि मर कौन रहा है, मैं या तू ? और वह मर गया.

७११, सुदामा नगर, इंदौर ४५२ ००९

'यादें'

✍राजकमल सक्सेना

उस वृद्ध व्यक्ति का मेरे घर के सामने खड़े होकर मुआयना करने का आज दूसरा दिन था. आज उसके साथ दो महिलाएं और चार बच्चे भी साथ थे. घर की ओर तर्जनी से इधर-उधर इशारे करता हुआ वह वृद्ध अपने साथ आये लोगों को कुछ समझाता रहता था.

अन्य परिजनों से मैंने जब उस व्यक्ति के बारे में चर्चा की तब सभी ने उस पर गौर किया. तीसरे दिन जब वह वृद्ध महाशय आये तो उनके साथ सात-आठ लोग और थे. अंततः हिम्मत करके घर के पुरुषों ने उन महाशय को बुलाकर उनके उस तरह से मकान का मुआयना करने पर आपत्ति जताई, तो वे महाशय हाथ जोड़कर बड़ी विनम्रता से बोले कि - "भाई साहब, ऐसी वैसी कोई बात नहीं है ! दरअसल बात यह है कि पचास बरस पहले मैं और मेरा परिवार इसी घर में रहा करते थे. बंटवारे के समय मैं चौदह साल का था. अब हिंदुस्तान आया तो अपना बचपन भी याद आ गया और मैं सपरिवार यहां चला आया. ये सब मेरे नाती-पोते और बहुएं हैं जिन्हें मैं अपने पुराने पुश्तैनी मकान को दिखाने के लिए लाया था. विगत कई दिनों से मैं अपने बचपन की यादें ताज़ा करने के लिए इस मुहल्ले में आ जाता हूं. पुराने लोग तो अब रहे नहीं, पता नहीं कहां होंगे ? पुरानी यादें ज़रूर ज़हन में समायी हैं जिन्हें मुहल्ले की गलियों और मकानों को देखकर ताज़ा कर रहा हूं."

वृद्ध होते उन महाशय की आंखों में बंटवारे की कसक स्पष्ट दिखाई पड़ रही थी. हम सभी परिजन उनकी मनोदशा से सहमत होकर उन्हें समझने का प्रयास कर रहे थे.

एफ-९, विवेक विहार, महल क्षेत्र, लश्कर, ग्वालियर ४७४ ००९ (म. प्र.)

ग़ज़ल

✍ रवींद्र हंस

आज मौसम का रुहानी रंग हो गया ।
बसंत की हवा चली मन पतंग हो गया ।।

हर सुधि का झोंका स्वर सजा जाता है ।
यादों का पीपल जल तरंग हो गया ।।

तोड़ दी सीमाएं प्रकृति के बंधन की ।
खुशियों के वन में मन मतंग हो गया ।।

जब से इन्सानियत को माना है धरम ।
मेरी अर्चना का शब्द शब्द अभंग हो गया ।।

सुबह सुनहरी तो कभी गुलाबी है शाम ।
पलकों के गांव का, कैसा रंग हो गया ।।

थामने जग को प्यार से फैलायी जो बाहें ।
मेरी उड़ान पे आसमां भी तंग हो गया ।

६, गिरनार, अणुशक्तिनगर, मुंबई ४०० ०९४.

हमकदम लघु-पत्रिकाएं

(प्रस्तुत सूची में यदि कोई त्रुटि रह गयी हो या किसी पत्रिका का प्रकाशन बंद हो गया हो तो कृपया सूचित करें.)

बराबर (पा.) - ए. पी. अकेला, ५ यतीश बिजनेस सेंटर, इर्ला सोसायटी रोड, विलेपार्ले (प.), मुंबई - ४०० ०५६
कथादेश (मा.) - हरिनारायण, सहयात्रा प्रकाशन प्रा. लि., १००९ इंद्रप्रकाश बिल्डिंग, २१ बाराखंभा रोड, नयी दिल्ली - ११०००१
तिब्बत देश (मा.) - विजय क्रांति, १० रिंग रोड, लाजपत नगर-४, नयी दिल्ली - ११० ०२४
दाल-रोटी (मा.) - अक्षय जैन, १३ रश्मन अपार्टमेंट, एस. एल. रोड, मुलुंड (प.), मुंबई - ४०० ०८०
वागर्थ (मा.) - प्रभाकर श्रोत्रिय, भारतीय भाषा परिषद, ३६-ए, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता - ७०० ०१७
साहित्य अमृत (मा.) - विद्यानिवास मिश्र, ४/१९ आसफ अली मार्ग, नयी दिल्ली - ११० ००२
शुभ तारिका (मा.) - उर्मि कृष्ण, ए-४७ शास्त्री कॉलोनी, अंबाला छावनी - १३३ ००१
शिवम् (मा.) - विनोद तिवारी, जय राजेश, ए-४६२, सेक्टर-ए, शाहपुरा, भोपाल - ४६२ ०३९
अरावली उद्घोष (त्रै.) - बी. पी. वर्मा 'पथिक', ४४८ टीचर्स कॉलोनी, अंबामाता स्कीम, उदयपुर ३१३ ००४
अपूर्व जनगाथा (त्रै.) - डॉ. किरन चंद्र शर्मा, डी-७६६, जनकल्याण मार्ग, भजनपुरा, दिल्ली - ११० ०५३
अभिनव प्रसंगवश (त्रै.) - डॉ. वेदप्रकाश अभिताभ, ४/१०६, मोती मिल कंपाउंड, अलीगढ़ (उ. प्र.)
असुविधा (त्रै.) - रामनाथ शिवेंद्र, ग्राम-खड़ुई, पो. पत्थूगंज, सोनभद्र - २३१ २१३ (उ. प्र.)
अक्षरा (त्रै.) - गोविंद मिश्र, मं. प्र. रा. समिति, हिंदी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल - ४६२ ००२
आकंठ (त्रै.) - हरिशंकर अग्रवाल / अरुण तिवारी, महाराणा प्रताप वार्ड, पिपरिया ४६१ ७७५ (म. प्र.)
अंचल भारती (त्रै.) - डॉ. जयनाथ मणि त्रिपाठी, ६/५४ देवरिया-रामनाथ, देवरिया - २७४ ००१
अंतरंग (त्रै.) - प्रदीप बिहारी, चतुरंग प्रकाशन, मेनकायन, न्यू कॉलोनी, उलाव, बेगूसराय - ८५१ १३४
अंतरंग संगिनी (त्रै.) - दिव्या जैन, गोविंद निवास, सरोजिनी रोड, विलेपार्ले (प.), मुंबई - ४०० ०५६
कंचन लता (त्रै.) - भरत मिश्र 'प्राची', डी-८, सेक्टर-३ए, खेतड़ी नगर - ३३३ ५०४
कृति ओर (त्रै.) - विजेंद्र, सी-१३३, वैशाली नगर, जयपुर - ३०२ ०२१
कथन (त्रै.) - रमेश उपाध्याय, १०७, साक्षरा अपार्टमेंट्स, ए-३, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली - ११० ०६३
कथा समवेत (त्रै.) - शोभनाथ शुक्ल, कल्लूमल मंदिर, सब्जी मंडी, चौक, सुल्तानपुर - २२८ ००१
कारवां (त्रै.) - कपिलेश भोज, पो. सोमेश्वर, अल्मोड़ा - २६३ ६३७
कल के लिए (त्रै.) - डॉ. जयनारायण, 'अनुभूति', प्लानिंग कॉलोनी, अलीगढ़ (उ. प्र.)
कहानीकार (त्रै.) - कमल गुप्त, के ३०/३६ अरविंद कुटीर, वाराणसी २२१ ००१
गीतकार (त्रै.) - साथी छतावरी, ९३३/२ तंवर मार्ग, नज़फगढ़ रोड, नयी दिल्ली - ११० ०१५
गुंजन (त्रै.) - मोहन सिंह रावत, रोहिला लॉज परिसर, तल्लीताल, नैनीताल - २६३ ००२
तटस्थ (त्रै.) - डॉ. कृष्ण बिहारी सहल, विवेकानंद विला, पुलिस लाइन्स के पीछे सीकर - ३३२ ००१
तेवर (त्रै.) - कमलनयन पांडेय, १५८७/४, उदय प्रताप कॉलोनी, बढ़ैयावीर, सिविल लाइन्स, सुलतानपुर - २२८ ००१
दस्तक (त्रै.) - राघव आलोक, "साराजहां", मकदमपुर, जमशेदपुर - ८३१ ००२
दीर्घाबोध (त्रै.) - कमल सदाना, अस्पताल चौक, ईसागढ़ रोड, अशोक नगर ४७३ ३३१ (म. प्र.)
दीर्घा (त्रै.) - डॉ. विनय, २५ बैंग्लो रोड, कमला नगर, दिल्ली ११० ००७
निमित्त (त्रै.) - श्याम सुंदर निगम, १४१५, 'पूर्णिमा', रतनलाल नगर, कानपुर २०८ ०२२
निष्कर्ष (त्रै.) - गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, ५९ खैराबाद, दरियापुर रोड, सुलतानपुर - २२८ ००१
परिधि के बाहर (त्रै.) - नरेंद्र प्रसाद 'नवीन,' पीयूष प्रकाशन, महेंद्रू, पटना - ८०० ००६
पश्यंती (त्रै.) - प्रणव कुमार बंद्योपाध्याय, बी-१/१०४ जनकपुरी, नयी दिल्ली - ११० ०५८
प्रयास (त्रै.) - शंकर प्रसाद करगेती, 'संवेदना', एफ-२३, नयी कॉलोनी, कासिमपुर, अलीगढ़ - २०२ १२७
प्रेरणा (त्रै.) - अरुण तिवारी, सी-१६०, शाहपुरा, भोपाल - ४६२ ०१६
पुरुष (त्रै.) - विजयकांत, गोशाला रोड, मुजफ्फरपुर (बिहार)
भाषा सेतु (त्रै.) - डॉ. अंबाशंकर नागर, हिंदी साहित्य परिषद, २ अमर आलोक अपार्टमेंट, बालवाटिका, मणिनगर, अहमदाबाद - ३८० ००८
मसि कागद (त्रै.) - डॉ. श्याम सखा 'श्याम,' १२ विकास नगर, रोहतक १२४ ००१
मुहिम (त्रै.) - बच्चा यादव / रणविजय सिंह सत्यकेतु, रचनाकार प्रकाशन, गुरुद्वारा मार्ग, पूर्णिया - ८५४ ३०१
युग साहित्य मानस (त्रै.) - सी. जय शंकर बाबु, १८/७९५/एफ/८-ए, तिलक नगर, गुंतकल - ५१५ ८०१ (आं. प्र.)
युगीन काव्या (त्रै.) - हस्तीमल 'हस्ती,' २८ कालिका निवास, नेहरू रोड, सांताक्रुज, मुंबई - ४०० ०५५
वर्तमान जनगाथा (त्रै.) - बलराम अग्रवाल, डी-२२ शांतिपथ, पत्रकार कॉलोनी, तिलक नगर, जयपुर - ३०२ ००४
वर्तमान संदर्भ (त्रै.) - संगीता आनंद, चुरू कोठी हाता, मोराबादी, रांची ८३४ ००८
शब्द-कारखाना (त्रै.) - रमेश नीलकमल, अक्षरविहार, अवंतिका मार्ग, जमालपुर - ८११ २१४ (बिहार)

संबोधन (त्रै.) - कमर मेवाड़ी, चांदपोल, कांकरोली - ३१३ ३२४
समकालीन सृजन (त्रै.) - शंभुनाथ, २० बालमुकुंद मक्कर रोड, कलकत्ता - ७०० ००७
साखी (त्रै.) - केदारनाथ सिंह, प्रेमचंद साहित्य संस्थान, प्रेमचंद पार्क, बेतिया हाता, गोरखपुर - २७३ ००१
सदभावना दर्पण (त्रै.) - गिरीश पंकज, जी-५० नया पंचशील नगर, रायपुर - ४९२ ००१
समझ (त्रै.) - डॉ. सोहन शर्मा, ए/१२ दीपसागर, पंतकी बाग के पास, अंधेरी (पू.), मुंबई - ४०० ०६९
सार्थक (त्रै.) - मधुकर गौड़, १/ए/३०३ ब्ल्यू ओसन, ब्ल्यू एंपायर कॉम्प्लेक्स, महावीर नगर, कांदिवली (प.), मुंबई - ४०० ०६७
संयोग साहित्य (त्रै.) - मुरलीधर पांडेय, २०४/'ए' चिंतामणि अपार्टमेंट, आर.एन.पी. पार्क, काशी विश्वनाथ नगर, भयंदर, मुंबई - ४०११०५
स्वातिपथ (त्रै.) - कृष्ण 'मनु', साहित्यांजन, बी-३/३५, बालुडीह, मुनीडीह, धनबाद - ८२८ १२९
शब्द संसार (त्रै.) - संजय सिन्हा, पो. बॉक्स नं, १६४, आसनसोल ७१३३०१
शुरुआत (त्रै.) - वीरेंद्र कुमार श्रीवास्तव, ३० आकाश गंगा परिसर, पुरानी बस्ती, मनेंद्रगढ़
शेष (त्रै.) - हसन जमाल, पन्ना निवास के पास, लोहार पुरा, जोधपुर -३४२ ००२
हिंदुस्तानी ज़बान (त्रै.) - डॉ. सुशीला गुप्ता, महात्मा गांधी बिल्डिंग, ७ नेताजी सुभाष रोड, मुंबई - ४०० ००२
अविरल मंथन (छ.) - राजेंद्र वर्मा, ३/२९ विकास नगर, लखनऊ - २२६ ०२०
अब (अ.) - शंकर / अभय / नर्मदेश्वर, ७४ इ, गोरक्षिणी पथ, ससाराम - ८२१ ११५
उत्तरार्द्ध (अ.) - विजयलक्ष्मी, ३८८ राधिका बिहार, मथुरा - २८१ ००४
कला (अ.) - कलाधर, नया टोला, लाइन बाजार, पूर्णियां - ८५४ ३०१
पुनः (अ.) - कृष्णानंद कृष्ण, दक्षिणी अशोक नगर, पथ सं-८बी, कंकड़ बाग, पटना - ८०० ०२०
सरोकार (अ.) - सदानंद सुमन, रानीगंज, मेरीगंज, अररिया - ८५४ ३३४
समीचीन (अ.) - डॉ. देवेश ठाकुर, बी-२३ हिमाचल सोसायटी, असल्फा, घाटकोपर (पू.), मुंबई ४०० ०८४
सम्यक (अ.) - मदन मोहन उपेंद्र, ए-१० शांतिनगर (संजय नगर), मथुरा २८१ ००१

'कथाबिंब' यहां भी उपलब्ध है :

- **पीपुल्स बुक हाउस**, मेहर हाउस, १५ कावसजी पटेल स्ट्रीट, मुंबई - ४०० ००१. फोन : २८७ ३७३८
- **व्यवस्थापक बुक कॉर्नर**, श्रीराम सेंटर, सफ़दर हाशमी मार्ग, नयी दिल्ली ११० ००१.
- **डॉ. देवकीनंदन**, ए-१/३०४, हृषीकेश, स्वामी समर्थ नगर, लोखंडवाला कॉम्प्लेक्स, अंधेरी (प.), मुंबई - ४०००५३. फोन : ६३२ ०४२५
- **श्री वीरेंद्र सिंह चंदेल**, १३६ तलैय्या लेन, परेड ग्राउन्डस, फतेहगढ़ - २०९६०१
- **श्री रविशंकर खरे**, हरिहर निवास, माधोपुर, गोरखपुर - २७३००१.
- **श्री राजेंद्र आहुति**, ए १३/६८, भगतपुरी, वाराणसी-२२१००१.
- **स ब द**, १७१ कर्नलगंज, स्वराज भवन के सामने, इलाहाबाद - २११००२.
- **डॉ. गिरीश चंद श्रीवास्तव**, ५९ खैराबाद, दरियापुर रोड, सुलतानपुर-२२८००१. फोन : २३२८५
- **श्री अनिल अग्रवाल**, परिवेश लघु पत्रिका मंडप, पुराना गंज, रामपुर-२४४९०१. फोन : ३२७३६१
- **श्री योगेंद्र दवे**, ब्रम्हपुरी, पीपलिया, जोधपुर-३४२००१
- **श्री राही सहयोग संस्थान**, शकुंतला भवन, बालाजी के मंदिर के पास, वनस्थली-३०४ ०२२ (राज.). फोन : २८३६७
- **श्री भुवनेश कुमार**, सं : कविता, २२० सेक्टर-१६, फरीदाबाद - १२१००२
- **श्री गोविंद अक्षय**, अक्षय फीचर सर्विसेस, १३-६-४११/२, रामसिंहपुरा, कारवान, हैदराबाद - ५०००६७.
- **श्री नूर मुहम्मद 'नूर'**, सी. सी. एम. क्लैम्स लॉ, दक्षिण पूर्व रेल्वे, ३, कोयला घाट स्ट्रीट, कलकत्ता - ७००००१
- **श्री देवेंद्र सिंह**, देवगिरी, आदमपुर घाट मोड़, भागलपुर - ८१२००१.
- **व्यवस्थापक**, सर्वोदय बुक स्टाल, रेल्वे स्टेशन, भागलपुर - ८१२००१.
- **श्री कलाधर**, आदर्श नगर, नया टोला, पूर्णियां - ८५४३०१.
- **मेसर्स लाल मणि साह**, आर.एन.साव. चौक, पूर्णिया - ८५४३०१.
- **श्री महेंद्र नारायण पंकज**, राजकीय प्राथमिक विद्यालय, पैकपार, मेरीगंज, अररिया - ८५४३३४.
- **श्री बसंत कुमार**, दीर्घतपा, वार्ड-६, अररिया -८५४३३४.
- **सुश्री मेनका मल्लिक**, चतुरंग प्रकाशन, न्यू कॉलोनी, उलाव, बेगूसराय - ८५११३४
- **श्री रणजीत बिहारी**, पत्रिका मंडप, पंचवटी, चीरागोड़ा, धनबाद - ८२६००१.
- **श्री देवेंद्र होलकर**, १८८ सुदामा नगर, अन्नपूर्णा सेक्टर, इंदौर - ४५२००९. फोन : ४८४ ४५२
- **श्री मिथिलेश 'आदित्य'**, पोस्ट बॉक्स-१, मेनरोड, जोगबनी - ८५४३२८

: प्राप्ति - स्वीकार :

ममता (उपन्यास) : सूर्यदीन यादव, भावना प्रकाशन, १२६ पटपड़गंज, दिल्ली ११० ० ०१, मू. १५० रु.

अनगिन चेहरोंवाले (कहानी संग्रह) : दीपक कुमार अज्ञात, पूर्णिया आलोक प्रकाशन, सिमरबनी, अरीरया (बिहार), मू. ८० रु.

परत-दर-परत (ल. स.) : डॉ. वीरेंद कुमार वसु, मांडवी प्रकाशन, आर-१०, एफ/५ राजनगर, गाजियाबाद (उ. प्र.), मू. २५ रु.

रोल्पा से डोल्पा तक (गज़) : आनंद स्वरूप वर्मा, समकालीन तीसरी दुनिया, क्यू-६३, सेक्टर १२, नोएडा २०१ ३०१, मू. ३५ रु. (पे. बै.) / १५० (सजिल्द)

चेहरे दर चेहरे (व्यंग्य सं) : राज केसरवानी, स्वयं प्रकाशन, ३/४ सेंट्रल एक्साइज कॉलोनी, रेसीडेंसी एरिया, इंदौर-४५२ ००१, मू. १०० रु.

लघुकथा : चिंतन एवं विश्लेषण (शोध प्रबंध) : डॉ. अमर नाथ चौधरी 'अब्ज', भी. बी. एस. प्रकाशन, डाक बंगला रोड, पटना, मू. २०० रु.

हास्य व्यंग्य कविताएं : डॉ. सुमन अग्रवाल, प्रकाशक : शकील अन्सारी, सबरंग प्रिंटर्स, मुंबई - ४०० ००८. मू. ६० रु.

अंतर्वेदना (कविता) : ऊषा वर्मा, समकालीन प्रकाशन, २७६२ राजगुरू मार्ग, नयी दिल्ली - ११० ०५५, मू. ४० रु.

प्यास (शेर/ग़ज़लें) : ईश धूरी आलवी, उड़ान पब्लिकेशन्स, वाटर वर्क्स रोड, मानसा - १५१ ५०५, मू. ६० रु.

कागज़ की नाव (प्र. काव्य) : गोविंद सिंह असिवाल, संकल्प प्रकाशन, २ बी, विजय नगर, भोपाल, मू. ५० रु.

भज मन भाव मन के (भजन संग्रह) : विपुल लखनवी, प्रकाशक श्रीमती पूनम सेन, ७८ शबरीगिरी, अणुशक्तिनगर, मुंबई - ४०० ०४, मू. ३० रु.

हमने कठिन समय देखा है (ग़ज़लें) : चंदसेन 'विराट' दिशा प्रकाशन, १३८/१६ त्रिनगर, दिल्ली - ११० ०३५, मू. १२० रु.

तो अब चिंता क्या है (कविता) : अक्षय गोजा, सुरेंद कुमार एंड सन्स, ३०/२१-२२ए, गली नं ८, विश्वास नगर, शाहदरा दिल्ली - ११० ०३२, मू. १०० रु.

अंजुरी (कविता) : डॉ. ब्रह्मजीत गौतम, अखिल भारतीय साहित्य कला मंच, मुरादाबाद (उ. प्र.), मू. १०० रु.

मेरे रहते (कविता संग्रह) : हेमंत, ग्रंथ भारती, वेस्ट कांती नगर, दिल्ली - ११० ०५१, मू. १५० रु.

बालश्री (हाइकू-संग्रह) : डॉ रमाकांत श्रीवास्तव, रूक्मिणी-श्याम सुंदरी स्मृति संस्थान, एल ६/९६, सेक्टर एल, अलीगंज, लखनऊ - २२६ ०२४, मू. १० रु.

नकेल (हाइकू संग्रह) : सदाशिव कौतुक, साहित्य संगम, 'श्रमफल', १५२० सुदामा नगर, इंदौर - ४५२ ००९, मू. २० रु.

'रेखा सक्सेना स्मृति पुरस्कार'

प्रिय पाठक आपको मालूम ही है कि अपनी कहानीकारा पत्नी **रेखा सक्सेना** की स्मृति में **श्री उमेश चंद्र सक्सेना** [२०१/बी, पायल, आशा नगर, कांदिवली (पू.), मुंबई ४००१०१] ने प्रतिवर्ष **'कथाबिंब'** को ५००० रु. देना सुनिश्चित किया है. इस राशि का उपयोग पूरे वर्ष में प्रकाशित आठ कहानियों के कथाकारों को पुरस्कृत करने में किया जाता है. पाठकों से अनुरोध है कि अक्तूबर-दिसंबर २००२ अंक हाथ में आने के बाद शीघ्र से शीघ्र कहानियों की श्रेष्ठता का क्रम प्रकाशित अभिमत-प्रपत्र में चिन्हित करके हमें भेजें. हम चाहते हैं कि अधिक से अधिक पाठक इस जनतांत्रिक चयन में भाग लें. इस हेतु वर्ष के सभी प्रकाशित अंक आप अपने पास सुरक्षित रखें और अपना निष्पक्ष निर्णय अभिमत-पत्र के माध्यम से व्यक्त करें. हम आपके विशेष आभारी होंगे.

हमारे आजीवन सदस्य

प्रारंभ से लेकर अब तक 'कथाबिंब' ने काफी उतार-चढ़ाव देखे हैं. इस दौरान जिन व्यक्तियों या संस्थाओं से हमें सहयोग मिला हम उन सभी के आभारी हैं. 'कथाबिंब' का देश में, एक व्यापक पाठक वर्ग बन गया है. हमारी इच्छा है कि 'कथाबिंब' और अधिक लोगों द्वारा पढ़ी जाये.

आजीवन सदस्यों के हम विशेष आभारी हैं. जिनके सहयोग ने हमें ठोस आधार दिया है. सभी आजीवन सदस्यों से निवेदन है कि वे एक या दो या अधिक लोगों को आजीवन सदस्यता स्वीकारने के लिए प्रेरित करें. संभव हो तो अपने संपर्क के माध्यम से विज्ञापन भी उपलब्ध करायें. यदि विज्ञापन दिलवा पाना संभव है तो कृपया हमें लिखें.

- संपादक

१) श्री अरुण सक्सेना, नवी मुंबई
२) डॉ. आनंद अस्थाना, हरदोई
३) स्वामी विवेकानंद हाई स्कूल, कुर्ला, मुंबई
४) डॉ. डी. एन. श्रीवास्तव, मुंबई
५) डॉ. वेणुगोपाल, मुंबई
६) डॉ. नागेश करंजीकर, मुंबई
७) डॉ. प्रेम प्रकाश खन्ना, मुंबई
८) श्री हरभजन सिंह दुआ, नवी मुंबई
९) डॉ. सत्यनारायण त्रिपाठी, मुंबई
१०) श्री उमेशचंद्र भारतीय, मुंबई
११) श्री अमर ठकुर, मुंबई
१२) श्री बी. एम. यादव, मुंबई
१३) श्री संतोष कुमार अवस्थी, बड़ौदा
१४) सुश्री शशि मिश्रा, मुंबई
१५) श्री भगीरथ शुक्ल, बोईसर
१६) श्री कन्हैया लाल सराफ, मुंबई
१७) श्री अशोक आंद्रे, नयी दिल्ली
१८) श्री कमलेश भट्ट 'कमल', मथुरा
१९) श्री राजनारायण बोहरे, दतिया
२०) श्री कुशेश्वर, कलकत्ता
२१) सुश्री कनकलता, धनबाद
२२) श्री भूपेंद्र शेठ 'नीलम', जामनगर
२३) श्री संतोष कुमार शुक्ल, शाहजहांपुर
२४) प्रो. शाहिद अब्बास अब्बासी, पांडिचेरी
२५) सुश्री रिफ़अत शाहीन, गोरखपुर
२६) श्रीमती संध्या मल्होत्रा, अनपरा, सोनभद्र
२७) डॉ. वीरेंद्र कुमार दुबे, चौरई
२८) श्री कुमार नरेंद्र, दिल्ली
२९) श्री मुकेश शर्मा, गुड़गांव
३०) डॉ. देवेंद्र कुमार गौतम, सतना
३१) श्री सत्यप्रकाश, मुंबई
३२) डॉ. नरेश चंद्र मिश्र, मुंबई
३३) डॉ. लक्ष्मण सिंह विष्ट, 'बटरोही,' नैनीताल
३४) श्री एल. एम. पंत, मुंबई
३५) श्री हरिशंकर उपाध्याय, मुंबई
३६) श्री देवेंद्र शर्मा, मुंबई
३७) श्रीमती राजेंद्र कौर, नवी मुंबई
३८) डॉ. कैलाश चंद्र भल्ला, नवी मुंबई
३९) श्री नवनीत ठक्कर, अहमदाबाद
४०) श्री दिनेश पाठक 'शशि', मथुरा
४१) श्री प्रकाश चंद्र श्रीवास्तव, वाराणसी
४२) डॉ. हरिमोहन बुधौलिया, उज्जैन
४३) श्री जसवंत सिंह विरदी, जालंधर
४४) प्रधानाध्यापक, 'ब्लू बेल' स्कूल, फतेहगढ़
४५) डॉ. कमल चोपड़ा, दिल्ली
४६) श्री आर. एन. पांडे, मुंबई
४७) डॉ. सुमित्रा अग्रवाल, मुंबई
४८) श्रीमती विनीता चौहान, नवी मुंबई
४९) श्री सदाशिव 'कौतुक', इंदौर
५०) श्रीमती निर्मला डोसी, मुंबई
५१) श्रीमती नरेंद्र कौर छाबड़ा, औरंगाबाद
५२) श्री दीप प्रकाश, मुंबई
५३) श्रीमती मंजु गोयल, नवी मुंबई
५४) श्रीमती सुधा सक्सेना, नवी मुंबई
५५) श्रीमती अनीता अग्रवाल, धौलपुर
५६) श्रीमती संगीता आनंद, रांची
५७) श्री मनोहर लाल टाली, मुंबई
५८) श्री एन. एम. सिंघानिया, मुंबई
५९) श्री ओ. पी. कानूनगो, मुंबई
६०) डॉ. ज. वी. यख़्मी, मुंबई
६१) डॉ. अजय शर्मा, जालंधर
६२) श्री राजेंद्र प्रसाद 'मधुबनी', मधुबनी
६३) श्री ललित मेहता 'जालौरी,' कोयंबटूर
६४) श्री अमर स्नेह, नवी मुंबई
६५) श्रीमती मीता सतीश दुबे, इंदौर
६६) श्रीमती आभा पूर्वे, भागलपुर
६७) श्रीमती आभा गोस्वामी, मुंबई
६८) श्रीमती राजेश्वरी विनोद, नवी मुंबई
६९) श्रीमती संतोष गुप्ता, नवी मुंबई
७०) श्री विशंभर दयाल तिवारी, नवी मुंबई
७१) श्री अभिषेक शर्मा, नवी मुंबई

लेटर बॉक्स

(...कुछ और प्रतिक्रियाएं)

⌘ 'कथाबिंब' का जनवरी-मार्च ०२ अंक मिला. आपके अथक परिश्रम से 'कथाबिंब' ने साहित्य के क्षेत्र में एक कीर्ति स्तंभ की उपलब्धि हासिल कर ली है. मैंने देखा है कि अब कहीं भी साहित्य और साहित्यिक पत्रिकाओं की बात होने पर 'कथाबिंब' और उसकी रचनाओं की चर्चा जरूर होती है. बधाई स्वीकारें.

इस अंक की रचनाएं भी प्रशंसनीय हैं मगर एक बात बहुत अखरी. आजकल अधिकतर रचनाकार अपने नाम के साथ डॉ. लिखने लगे हैं. मानता हूं कि उन्होंने कठिन परिश्रम से यह उपाधि हासिल की है मगर पाठकों द्वारा रचनाओं के मूल्यांकन के लिए क्या डॉ. की उपाधि लगाना आवश्यक है ? लेखन की परख क्या रचना से नहीं होती है ? मुझे तो ऐसे रचनाकारों की रचनाएं पढ़ने में बड़ी घबराहट होती है. और लेखक ही जब इस उपाधि का प्रचार चाहते हैं तो आप भी क्या करेंगे.

विजय शंकर विकुज,

८९/२९३ बांगुर पार्क, रिसड़ा, हुगली ७१२ २४८

⌘ 'कथाबिंब' के जनवरी-मार्च अंक को जून के उत्तरार्द्ध में पाकर भी बेहद संतोष अनुभव किया. इसकी पांचों कहानियां प्रभावशाली पद्धति से कुछ न कुछ नया कहती हैं. जहां 'हिस्सेदारी' में नारी जीवन के करुण प्रसंगों के साथ ही नयी संघर्ष चेतना के संकेत मिलते हैं, वहां 'क्षमा' में आधुनिक जीवन की थोथी औपचारिकता पर प्रहार किया गया है. इसी क्रम में 'अपने-अपने कल्पवास' में निहित व्यंग्य धार्मिक परिप्रेक्ष्य में खोखलेपन को उजागर करने वाली रचना लगी. 'जूनी झूठ नहीं बोलती' बाल मनोविज्ञान पर आधारित बच्चों के परस्पर व्यवहार की कथा है, जो अनायास ही जीवन के सत्य का साक्षात्कार कराती है. 'अवसर' कहानी जीवन के संतापों का जिक्र करने के साथ-साथ मनुष्य को जीने के संदर्भों में सही सीख देती है. इस अंक में प्रस्तुत अधिकांश लघुकथाएं भी आज के जीवन और सामाजिक ढर्रे पर सशक्त प्रहार करती हैं. काव्य विधा के अंतर्गत श्री मदन किशोर सिंह, डॉ. कृष्ण मोहन झा, श्री घनश्याम अग्रवाल तथा श्री दिनेश सिंदल की रचनाएं अधिक अच्छी लगीं. 'आमने-सामने' में डॉ. देवेंद्र सिंह ने अपने जीवन क्रम को ही सामने नहीं रखा, अपने भीतर की बेचैनी भी जाहिर की. इसी तरह 'सागर/सीपी' में प्रस्तुत श्री वीरेंद्र कुमार गुप्त की भेंट वार्ता काफी महत्वपूर्ण लगी. जहां तक कृति-समीक्षाओं का प्रश्न है, इनसे कृति का संपूर्णतः परिचय ही नहीं मिला, मूल्यांकन के सूत्र भी उद्घाटित हुए हैं. इन स्थायी स्तंभों में सर्वाधिक विचारोत्तेजक रहा संपादकीय आलेख, जिसके माध्यम से आज की स्थितियों की बेबाक समीक्षा की गयी है तथा निरंतर बिगड़ते जा रहे संदर्भों की ओर पाठकों के ध्यान को आकर्षित किया गया है. वस्तुतः अपनी समग्रता में प्रस्तुत अंक बेहद प्रभावशाली है.

डॉ. भगीरथ बड़ोले,

२८६, विवेकानंद कालोनी, फ्रीगंज, उज्जैन ४५६ ०१०

⌘ 'कथाबिंब' का जनवरी-मार्च ०२ अंक अत्यधिक विलंब से प्राप्त हुआ. इन तीन महिनों की लंबी प्रतीक्षा करवाने की मजबूरी को दूर करने के लिए यदि आपकी ओर से कोई ठोस पहल होती है, तो हमें ख़ुशी होगी. इस अंक का फ्लैप ऐतिहासिक धरोहर के रूप में याद किया जायेगा. गोधरा कांड के बहाने आपने इस धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के नेताओं, हिंदू, मुसलमानों तथा सिखों को जो सीख दी है, इससे उनको संज्ञान लेना चाहिए. भारतीय राजनीति पर आपकी अच्छी पकड़ है.

इस अंक की चारों कहानियां अच्छी हैं. डॉ. देवेंद्र सिंह की कहानी 'अवसर' विशेष पसंद आयी. आज की श्रद्धाविहीन और कृतघ्न पीढ़ी उपभोगतावादी प्रवाह में आकर माता-पिता की आकांक्षाओं की जैसी क्रूर हत्या करती है, इससे भारतीय संस्कृति का क्षय अवश्यंभावी है. डॉ. सुकीर्ति गुप्ता की 'हिस्सेदारी' में नंदिनी की त्रासदपूर्ण मुक्ति मर्म को छू गयी. वहीं डॉ. अजय शर्मा की चौंकानेवाली कहानी, कुछ रास नहीं आयी. लघुकथाओं में 'छलावा', 'निर्वाण' और 'सीख' तथा ग़ज़लें / कविताओं के अंतर्गत डॉ. कृष्णमोहन झा, निर्मल मिलिंद, कृष्ण सुकुमार और प्रेमलता त्रिपाठी की रचनाएं पसंद आयीं.

आपने लिखा है - 'कबिरा खड़ा बाजार में, जली लुकाठी हाथ'... यहां 'जली' के स्थान पर 'लिये' होना चाहिए, क्योंकि 'लुकाठी' या 'लुआठी' एक जलती लकड़ी ही होती है.

और अंत में "रेखा सक्सेना स्मृति पुरस्कार" योजना के सुसंचालन के लिए हार्दिक बधाई !

भोला पंडित 'प्रणयी',

बंधु-सदन, गीतवास, अररिया - ८५४ ३१२ (बिहार)

⌘ 'कथाबिंब' जनवरी-मार्च ०२ का अंक जून में मिला. इतने विलंब के बाद कुछ लिखना ठीक नहीं लगता. फिर भी कहानियों पर मेरी प्रतिक्रिया इस प्रकार है - डॉ. सुकीर्ति गुप्ता की कहानी - 'हिस्सेदारी' नारी की अविवेकी भावुकता की अनापेक्षित परिणति का संकेत है. - डॉ. अजय शर्मा, की कहानी 'क्षमा'- भौतिक यथार्थ को बखूबी प्रकट करती है, तथा लीक से हट कर, एक दबे हुए अवश्यंभावी सत्य को कहती है. सुधीर अग्निहोत्री की 'अपने-अपने कल्पवास,' वर्तमान समय में परिवर्तित आस्थाओं तथा समाज के भ्रष्ट पक्षों को उजागर करती है, जो मुझे सबसे अच्छी लगी, क्योंकि पाठक इस कहानी के कथ्य के अनुरूप युग में जी रहा है. 'जूनी झूठ नहीं बोलती' राजीव सिंह की अपेक्षित व्यक्तित्व का सजीव चित्रांकन है. इसी प्रकार डॉ. देवेंद्र सिंह की 'अवसर,' पारिवारिक मूल्यों का विघटन दर्शाती है.

कहानी के अतिरिक्त अन्य स्तंभ भी सुंदरता से संजोये गये. आशा है, पत्रिका इसी प्रकार अपना स्तर बनाये रखेगी.

कैलाश बिहारी श्रीवास्तव,

डी-१४, शाहजादा कोठी, रायबरेली २२९००१

भाषा-विचार : लेखकों से निवेदन

प्रकाशनार्थ पांडुलिपि तैयार करते समय संपादन की सुविधा के लिए कृपया निम्नलिखित निर्देशों का पालन करें :

१) (क) विभक्तियों को शब्दों से अलग लिखा जाये -
उदाहरण - 'राम ने', 'मेज़ पर', 'लड़कों को'
(ख) सर्वनामों की सभी विभक्तियों को मिला कर लिखा जाये-
उदाहरण - 'उसने', 'मैंने', 'उनका', 'हमसे'
(ग) जिन सर्वनामों के अंत में 'ही' अथवा 'ई' लगा हो, उनकी विभक्तियों को अलग लिखा जाये -
उदाहरण - 'इसी से', 'तुम्हीं को', 'सभी को'

२) पूर्वकालिक क्रियाओं के 'कर' को अलग लिखा जाये -
उदाहरण - 'जा कर', 'आ कर', अन्यथा 'कर' मिलाकर लिखें.

३) संयुक्त क्रियाओं में दोनों अंशों को अलग-अलग लिखा जाये -
उदाहरण - 'आ गया', 'चल पड़ा', 'हो सका'

४) जिन भूतकालिक कृदंत क्रियाओं अथवा विशेषणों का अंत 'या' से होता है, उनके स्त्रीलिंग और बहुवचन रूपों में 'य' का ही प्रयोग किया जाये -
उदाहरण - 'गया, गयी, गये', 'नया, नयी, नये', 'आया, आयी, आये', 'लाया, लायी, लाये', 'पाया, पायी, पाये', 'खाया, खायी, खाये', 'किया, किये' आदि.
दृष्टव्य है कि 'भाई', 'लाई', 'पाई' आदि संज्ञाएं हैं. भविष्यकाल में ये रूप निम्न प्रकार होंगे - आयेगा, पायेगा, लायेगा, जायेगा आदि. आवेगा, जावेगा आदि प्रयोग ठीक नहीं हैं.

५) 'हुआ' जैसी जिन क्रियाओं के अंत में 'आ' है उनके स्त्रीलिंग 'हुई' व बहुवचन 'हुए' के अनुसार होना चाहिए.

६) 'लिये/लिए' : 'लिये' को 'लिया' का बहुवचन रूप मानें और 'लिए' को विभक्ति चिन्ह.

७) 'चाहिये/चाहिए' : 'चाहिए' ही लिखा जाये.
'एसा/ऐसा' : 'ऐसा' लिखा जाये.

८) 'दिखाई/दिखायी' : 'दिखाई' संज्ञा रूप मानें और 'दिखायी' भूतकालिक क्रिया (स्त्रीलिंग). *उदाहरण* - 'सांप दिखाई पड़ा', 'मैंने उसे पुस्तक दिखायी' इसी प्रकार 'पढ़ाई' और 'पढ़ायी' में भी अंतर करें.

९) आदरार्थ आज्ञा रूपों में संभावनार्थक क्रियाओं में 'ए' ही लिखा जाये -
उदाहरण - 'आइए', 'खाइए', 'जाइए', 'समझिए', 'कीजिए', 'रखिए' आदि.

१०) अनुस्वार और अनुनासिक ध्वनियां : 'संयुक्त व्यंजन' की अनुनासिक ध्वनि को 'अनुस्वार' के द्वारा दर्शाया जाना चाहिए - वर्ग का प्रत्येक पंचम वर्ण यथा, ङ ('क' वर्ग), ञ ('च' वर्ग), ण ('ट' वर्ग), म ('प' वर्ग), व न ('त' वर्ग) अनुनासिक ध्वनियां हैं.
अनुस्वार स्थापन का नियम इस प्रकार है : जिस किसी अक्षर के आगे यदि उसी वर्ग की अनुनासिक ध्वनि है तो उसे अनुस्वार (बिंदी) से बदला जा सकता है;
उदाहरण - कंगन, अंक, व्यंजन, रंजन, ठंडा, डंडा, पंडित, कंपन, पंप, बंद, परंतु, किंतु, मृगांक, दंडित, संबंध, अंत आदि.
इस नियम का प्रयोग ध्यानपूर्वक करना चाहिए, अन्यथा अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है. जन्म, मान्य, समन्वय, सम्मति आदि शब्द वैसे ही रहेंगे.

११) एकवचन से बहुवचन - 'या' से 'ये', 'ए' नहीं. जैसे, रुपया - रुपये, हंसिया - हंसिये ('हंसिए' आदरार्थ आज्ञा रूप होगा).

१२) संस्कृत के जो शब्द हिंदी में तत्सम रूप में प्रचलित हैं, उनमें 'य' का व्यवहार उचित है. जैसे, अस्थायी, बाजपेजी, उत्तरदायी आदि. इन्हें अस्थाई, बाजपेई, उत्तरदाई लिखना न तो व्याकरण सम्मत है और न व्यावहारिक.

१२) चंद्र-बिंदु का प्रयोग - छपाई की सुविधा के लिए चंद्र-बिंदु की ज़गह अनुस्वार का प्रयोग किया जाये. जैसे, अंधा, आंख, अंगना, चांद, मां, पहुंचना, हां आदि.

१३) संख्याओं को देवनागरी में ही लिखा जाये.

हार्दिक अभिनंदन

प्रा. डॉ. सौ. संध्या अशोक जाधव

उपाध्यक्षा

अंबिका महिला बँक. अहमदनगर

अहमदनगर शहरातील अंबिका महिला बँकेच्या चुरशीच्या निवडणूकीत प्रचंड मताधिक्याने विजयी झाल्याबद्दल तसेच बँकेच्या **उपाध्यक्षा** म्हणून निवड झाल्याबद्दल **तेजस्विनी महिला औद्योगिक संस्था अहमदनगर च्या वतीने हार्दिक अभिनंदन.**

उपाध्यक्षा

श्रीमती तारामती गुलाबराव धामणे

अध्यक्षा

सौ. छाया संजय जाधव

मा. संचालक मंडळ

प्रा. सौ. ललिता उत्तम कुंजीर

सौ. लता अशोक काळे

सौ. प्रमिला रामचंद्र हिरे

प्रा. सौ. संध्या अशोक जाधव

सौ. उषा रघूनाथ मराठे

सौ. शांता भिमराज मोरे

सौ. कल्पना वसंत वाघ

मित्र

साहित्य की सामाजिकता के रचनात्मक अभियान की त्रैमासिक पत्रिका

प्रवेशांक : शीघ्र प्रकाश्य

- मूल्य एक प्रति : चालीस रुपये • वार्षिक : दो सौ रुपये (पांच अंक, डाक व्यय सहित)
- संस्थाओं के लिए : तीन सौ रुपये • विदेश के लिए : चालीस डालर
- आजीवन सदस्यता : दो हजार रुपये • संस्थाओं के लिए : तीन हजार रुपये

संपर्क :

मिथिलेश्वर

संपादक : 'मित्र' महाराजा हाता, कतिरा, आरा - ८०२ ३०१ (बिहार)

With best compliments from :

SAGAR ENGINEERING WORKS

Manufacturer : *Refrigeration Coils, Chilled Water Cooling Coils, Heat Exchangers, Steam Heaters, Fin Tube After Coolers, Shell & Tube After Cooler, Shell & Tube Condensers, Shell & Tube Chillers, Chilling Plants, F.C.U., Heating Ventilation & Air Conditioning Systems.*

Plot No. A-19 B, Veera Desai Road, Opp. Victor Paints,
Andheri (W), Mumbai 400 053.
Telefax : 673 2574 • Fact. : 673 2476 • E-mail : sagarew@vsnl.net

With best compliments from :

SNOWCOOL REFRIGERATION CO.

ENGINEERS & CONTRACTORS

Specialist in Manufacture of : Fin Coil Units, Ventillation Units, Chilled Water Pipelines

Off : B/205, Maruti Paradise, Plot No. 92-95, Sector 15, C.B.D. Belapur, Navi Mumbai - 400 614. Tel. : 757 8848
Works : Shop No. 1, Harikrupa, Plot No. 65, Road No. 1, Near Liberty Garden, Malad (W), Mumbai - 400 064.

अब आज़ादी सबको अपने निवास की

आवास ऋण

कम से कम ब्याज दरों पर.

देना बैंक पेश करता है अपनी आवास ऋण योजना की कम ब्याज दरें.

रु. 1 लाख के ऋण पर ई एम आई

वर्ष	ई एम आई
7	1686
10	1349
12	1224
15	1105

DENA NIWAS
HOUSING FINANCE SCHEME

* फ्लोटिंग दर पर रु. 2 लाख से अधिक तथा 10 लाख तक के ऋण के लिए
* ब्याज की फ्लोटिंग और फिक्स्ड दरों का विकल्प उपलब्ध

देना बैंक ने अपनी देना निवास आवासीय ऋण योजना के तहत अपने आवास ऋण की ब्याज दरों को 12.25% से घटाकर 10.5%* कर दिया है. पर बात सिर्फ़ घटी हुई ब्याज दर पर ही खत्म नहीं होती. यहां हैं और भी कई शानदार कारण जो बनाएँ देना निवास आवासीय ऋण योजना को औरों से अलग.

अधिक जानकारी के लिए अपनी नज़दीकी देना बैंक शाखा से आज ही संपर्क करें.

देना बैंक
DENA BANK
(भारत सरकार का उपक्रम)
विश्वस्त पारिवारिक बैंक

प्रधान कार्यालय : मेकर टावर्स, 'ई', कफ परेड, मुंबई - 400 005.
http://www.denabank.com

DB 407-2/98

मंजुश्री द्वारा संपादित व **आर्ट होम**, शांताराम साळुंके मार्ग, घोड़पदेव, मुंबई - ४०० ०३३ में मुद्रित.
टाइप सेटर्स : **वन-अप प्रिंटर्स**, १२वां रास्ता, द्वारका कुंज, चेंबूर, मुंबई - ४०० ०७१. फो. : ५५५ २३४८ व ५५६ ६२८४.